का के उद्देश्य

भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

अंगों का विवेचन।

संस्कृति का अनुसंधान।

शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

निवेदन

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है, और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास के भीतर भेजी जाती है।

(४) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है परंतु संभव है सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

संपादक कृष्णानंद
सहायक संपादक पुरुषोत्तम

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५५] संवत् २००७ [अंक ३

प्राकृत जैन-साहित्य की रूपरेखा

[श्री आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय]

१—भारतीय साहित्य को हिंदू, जैन और बौद्ध—इन धार्मिक खंडों में विभाजित करने की विद्वानो में प्रथा चल पड़ी है। यह विभाग है तो कुछ सुविधा-जनक, किंतु उसकी भ्रांति में हमें शरीर और प्राण का भेद नहीं भूल जाना चाहिए। यह सत्य है कि अधिकाश भारतीय साहित्य धार्मिक है, किंतु कुछ शुद्ध भौतिक या व्यावहारिक रचनाएं भी धर्म की लपेट में आ गई हैं। यथार्थतः ज्ञान की उपासना और साहित्यिक प्रवृत्ति को धर्म और संप्रदाय के घेरे से बाहर रखना चाहिए। यदि हम इस कसौटी पर परीक्षा करें तो हमें ज्ञात होगा कि प्राचीन जैन लेखकों को सच्ची साहित्यिक रुचि और उदार सार्वजनिक दृष्टि रखने का श्रेय प्राप्त है। उन्होंने सामाजिक सहिष्णुता और असंकीर्ण विचारशीलता का पक्ष ग्रहण किया है। इनमे से प्रथम प्रवृत्ति का स्वरूप उनकी 'अहिसा' में तथा द्वितीय प्रवृत्ति का उनके 'अनेकांत' में विकसित हुआ है। हरिभद्र जैसे प्रमुख ग्रंथकारों ने अपने न्यायशील खंडन-मंडन में अपने प्रतिपक्षियों के साथ आदर का व्यवहार किया है। सुप्रसिद्ध जैन लेखकों ने अजैन ग्रंथो पर बड़ी बड़ी टीकाएँ लिखी हैं। अनेक अजैन ग्रंथों की केवल जैन भंडारों में ही रक्षा हुई है। ये एक आदर्श भावना के दृष्टांत हैं जो हम सबको अपना एक विशेष संदेश सुना रहे हैं।

यही उदार भावना जैन लेखकों और संतों द्वारा देश की विभिन्न भाषाओं के उपयोग में प्रस्फुटित हुई है। उन्होंने कभी ऐसा अंधविश्वास उत्पन्न नहीं किया

कि कोई एक भाषा देववाणी है और वही भाषा-साहित्य-रचना के योग्य है। उनके लिये भाषा ने कभी साध्य का रूप नहीं धारण किया। वह सदैव एक साधन मात्र रही, जिसका साध्य था सत्य का प्रचार। तदनुसार उनके लिये धीमानों और श्रीमानों की गढ़ी हुई और स्थिर भाषाओं का जितना मूल्य था, उससे कहीं अधिक महत्त्व था उन सजीव प्राकृत भाषाओं का जो बहुजन-समाज में प्रचलित थीं। पूर्वोक्त सुसंस्कृत भाषाओं की उन्होंने उपेक्षा की हो, सो बात नहीं है। उन्होने उनकी ओर खूब ध्यान दिया है। किंतु उन्होने सजीव भाषाओं को विशेष रूप से अपनाया और उन्हें साहित्य का रूप प्रदान किया। प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी, गुजराती, तामिल और कन्नड़ भाषाओं के विकास का जो इतिहास हमें अभी तक ज्ञात हुआ है वह पुकार पुकार कर उन जैन कवियों और मुनियों की प्रशंसा कर रहा है जिन्होंने इन भाषाओं के सदुपयोग द्वारा क्रमशः इन्हें सौंदर्य और गांभीर्य की चरम सीमा पर पहुँचा दिया।

२—'प्राकृत' शब्द के अर्थ में समय समय पर अनेक परिवर्तन हो चुके हैं। किंतु सामान्यतः प्राकृत का अभिप्राय सदैव उन मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं से रहा है जो लोकप्रचलित थीं तथा उस देववाणी संस्कृत से पृथक् थीं जो अपने संस्कारयुक्त रूप मे केवल इनेगिने धीमानों और श्रीमानों द्वारा उपयोग में लाई जाती थी। भारतवर्ष के इतिहास मे यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि समस्त प्राचीनतम शिलालेख प्राकृत मे ही लिखे हुए पाए गए हैं, और विक्रम की चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक भी प्राकृत मे ही बहुधा शिलालेख लिखे गए है। अशोक और खारवेल के शिलालेख इस बात के सुप्रसिद्ध प्रमाण हैं। अशोक के लेख, कम से कम उनमें से कुछ, शाश्वत सदाचार के उत्कृष्ट उपदेशरूप हैं। संस्कृत नाटकों में प्राकृत भाषाओं का उपयोग प्रायः नीच पात्रों द्वारा कराया गया है। इसीसे हमे भाषासंबंधी यथार्थ सामाजिक परिस्थिति का पता चल जाता है और यह बात सिद्ध हो जाती है कि वे शिलालेख जनता के हित के उद्देश्य से ही लिखाए गए थे। इस प्रकार यह बात असंदिग्ध रूप से कही जा सकती है कि प्राकृत ही जनता की भाषा थी और संस्कृत का उपयोग उच्च श्रेणी के लोगों तक ही सीमित था। सामान्य अर्थ में पाली भी प्राकृत के भीतर आ जाती है और आज भी भाषा-शास्त्री प्रायः इसी विस्तृत अर्थ में 'मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा' शब्द का प्रयोग करते हैं।

३—यहाँ हमारा उद्देश्य जैनों द्वारा रचित प्राकृत साहित्य का सिंहावलोकन करना है। महावीर और बुद्ध इन दोनों श्रमणनायकों का ध्येय प्राणिमात्र के हित की दृष्टि से मानुषिक तत्त्वों का प्रचार करना था। अतः यह उचित ही था कि उन्होंने जनता की भाषा में ही उपदेश देना प्रारंभ किया। महावीर और उनके शिष्यों के उपदेश हमें छोटे बड़े पैंतालीस ग्रंथों में संगृहीत मिले हैं। यही साहित्य अर्धमागधी और जैन आगम कहलाता है। इस आगम के छः विभाग हैं—अंग, उपांग, प्रकीर्णक, छेदसूत्र, संकीर्ण और मूलसूत्र। आगम के भीतर विविध विषय चर्चित हैं और वे अपने समय के मानवीय ज्ञान की सब धाराओं में प्रवाहित हैं। *आचारांग*, *दसवेआलिय*, *पिंडनिर्युक्ति* आदि ग्रंथों में मुनि-जीवन की छोटी से छोटी बातों पर भी विचार किया गया है और तदनुकूल नियम बनाए गए हैं। *जीवाभिगम* आदि रचनाओं में जीव एवं जगत् संबंधी सभी विषयों का ऊहापोह किया गया है। *उवासगदसाओ*, और *पण्हावागरणाइं* में गृहस्थ-जीवन के आदर्श उपस्थित किए गए हैं। *नायाधम्मकहाओ*, *विवाग*, *निरयावली* आदि ग्रंथों में नीतिसंबंधी धार्मिक आख्यान पाए जाते हैं। *सूरपण्णत्ति* आदि में विश्वरचना का विचार किया गया है। *सूयगडं* और *उत्तरज्झयण* में बड़े ही सुंदर नैतिक उपदेश पाए जाते हैं। इनके कुछ खंड तो प्राचीन भारतीय संत-काव्य के मनोहर उदाहरण हैं। *नंदी* आदि ग्रंथों में जैनों की ज्ञानमीमांसा विस्तृत रूप से पाई जाती है। *भगवती* जैसे ग्रंथ अपने विषय-बाहुल्य की दृष्टि से ज्ञानकोष ही कहे जा सकते हैं।

४—जैन आगम का वर्तमान स्वरूप बहुत पीछे अर्थात् महावीर के निर्वाण से ९८० वर्ष पश्चात् का है। जैन-मान्यतानुसार विक्रम से ४७० वर्ष पूर्व महावीर का निर्वाण हुआ था। अतः आगम के वर्तमान स्वरूप प्राप्त करने का काल विक्रम संवत् ९८०–४७०=५१० सिद्ध होता है। किंतु निष्पक्ष और विवेकपूर्ण अध्ययन से पता चलता है कि *आचारांग* जैसे ग्रंथ उक्त समय से पूर्व की रचनाएँ हैं। आगम पहले से लिखित न होकर मौखिक परंपरा द्वारा प्रचलित रखा गया जिससे उसमें अनेक विकार उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक था। आगम की सबसे प्रथम व्यवस्था पाटलिपुत्र की वाचना द्वारा हुई, जिसका समय ई० पू० चौथी शताब्दी पाया जाता है। इसके पश्चात् दूसरी बार मथुरा में भी वाचना हुई कही जाती है जिसे 'माथुरी वाचना' कहते हैं; और अंत में आज के उपलब्ध रूप में उसकी व्यवस्था वल्लभी वाचना द्वारा हुई जिसका काल निर्वाण से ९८० वर्ष पश्चात् अर्थात् वि० सं० ५१० माना जाता है। आगम के इस इतिहास से ही स्पष्ट है कि उसकी व्यवस्था

और रचना में समय समय पर परिवर्तन हुए हैं। समालोचक विद्वान् आगम में प्राचीन और नवीन रचनाओं का विवेक करने का प्रयत्न कर रहे है। प्राचीन खंडों की प्राकृत में हमें भाषा की प्राचीन प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। पीछे की रचनाओं मे तदनुसार पीछे की प्राकृतों की विशेषताएँ मिलती है। यद्यपि कुछ विद्वान् लेखकों ने आगम का स्थूल परिचय कराया है, तो भी अभी समस्त आगम के परिपूर्ण और सूक्ष्म रीति से अध्ययन की आवश्यकता बनी हुई है। जब ऐसा अध्ययन किया जायगा तभी आगमों के भीतर निहित सामग्री का, भारतीय संस्कृति और साहित्य को सब दिशाओं में समझने के लिये, उपयोग हो सकेगा।

५—अर्धमागधी आगम पर प्राचीनतम टीकाएँ भी प्राकृत में ही लिखी गईं, जैसे पाली त्रिपिटक ग्रंथों पर भी पुरानी टीकाएँ पाली में ही लिखी पाई गई हैं। कोई दश ग्रंथों पर हमें पद्यात्मक टीकाएँ प्राप्त हैं जो *निर्युक्ति* कहलाती हैं। कुछ ग्रंथों पर गद्य में टीकाएँ हैं जो *चूर्णि* कहलाती है। ये सब अभी तक पूर्णतः प्रकाशित भी नहीं हुई है। *विशेषावश्यक भाष्य* सरीखी रचनाएँ बड़ी विशाल है और अपना एक पूरा साहित्य ही अलग रखती हैं। उनमें अनेक छोटी-मोटी ऐसी बातें मिलती हैं जो सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण और रोचक है। आगम पर संस्कृत टीकाओं का काल आठवीं शताब्दी मे *हरिभद्र* से प्रारंभ होता है।

६—उपर्युक्त अर्धमागधीभाषात्मक समस्त आगम केवल श्वेतांबर संप्रदाय में ही प्रचलित और मान्य है। दिगंबर संप्रदाय मे इस आगम की प्रमाण रूप से मान्यता नहीं है। दिगंबर जैन परंपरा के अनुसार कहा जाता है कि महावीर के उपदेशोंवाला मौलिक आगम सर्वथा नष्ट हो गया। अभी तक जो कुछ परिमित अध्ययन दोनों संप्रदायों के मान्य ग्रंथों का किया गया है उससे पता चलता है कि किसी समय दोनों का एक ही साहित्य था, क्योंकि दोनों के ग्रंथो मे बहुत सी बाते उन्हीं शब्दों में कही पाई जाती है। दिगबर संप्रदाय द्वारा मान्य शिवार्यकृत *भगवती-आराधना* और कुंदकुंदकृत *प्रवचनसार* आदि ग्रंथों मे इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि उनमें ऐसी बहुत सी बाते हैं जो एक समय सर्वमान्य थीं। शिवार्य और कुंदकुंद ईसा की प्रथम शताब्दी में हुए अनुमान किए जाते है। श्वेतांबरो का मत है कि *दृष्टिवाद* नाम का बारहवाँ अंग नष्ट हो गया। किंतु प्रो० हीरालाल जी ने बतलाया है कि स्पष्टतः दृष्टिवाद के कुछ अंश विषयरूप से *सत्कर्मप्राभृत* और *कषायप्राभृत* मे रक्षित हैं। इन्हीं पर क्रमशः *धवला* और *जयधवला* नामक विशाल टीकाएँ प्राकृत मे (और कही कहीं कुछ संस्कृत में) वीरसेन और जिनसेन द्वारा नवीं शताब्दी मे रची गईं जो

अब प्रकाश में आ रही हैं। इन रचनाओं में उस कर्म-सिद्धांत का बड़ा सूक्ष्म विवेचन पाया जाता है जो भारतीय धर्मों में जैन शासन की एक अनुपम निधि है।

७ - कर्म-सिद्धांत से संबंध रखनेवाला अधिकांश जैन साहित्य श्वेतांबर और दिगंबर दोनों संप्रदायों मे प्राकृत मे ही विरचित पाया जाता है ; जैसे शिवशर्मकृत *कम्मपयडी*, चंद्रर्षिकृत *पंचसंग्रह*, प्राचीन और प्राचीनतर *छह्कर्मग्रंथ* श्वेतांबरों में, तथा नेमिचंद्रकृत *गोम्मटसार*, *लब्धिसार*, और *क्षपणसार* दिगंबरों में। इनमें के अधिकांश छप चुके हैं, किंतु उनका विवेकपूर्वक तुलनात्मक अध्ययन अब भी शेष है। इसकी बड़ी भारी आवश्यकता है।

भगवती-आराधना मुनि-धर्म पर एक बड़ी महत्त्वपूर्ण प्राकृत रचना है। कुंदकुंद जैनसिद्धांत के एक मतविशेष पर सर्वोपरि प्रमाण माने जाते हैं। उनकी प्राकृत रचनाएँ आगम के पश्चात्काल का एक विशेष साहित्यांग हैं। पर वे प्रायः परंपरागत कुछ मान्यताओ के संग्रहरूप है। कुंदकुंद के *पंचास्तिकाय*, *प्रवचनसार*, *समयसार* और *षट्पाहुड* नामक ग्रंथों में जैन धर्म संबंधी विषयों का निरूपण किया गया है। यहाँ न्याय और तर्कशैली का अवलंबन नहीं पाया जाता; ग्रंथकार प्रायः धर्मोपदेशको के समान केवल मतविशेष का प्रतिपादन मात्र करते हैं। जैन विश्वतत्त्व की जो परंपरा दिगंबरों में आई उसका प्रतिपादन यतिवृषभ की *तिलोयपएणत्ति*, पद्मनंदि की *जंबुद्दीवपएणत्ति* एवं नेमिचंद्रकृत *तिलोयसार* में पाया जाता है।

जिनभद्र का *विशेषावश्यक भाष्य*, सिद्धसेनकृत *सम्मतितर्क* आदि ग्रंथ अपने ढंग के अद्वितीय हैं। इनमे विशेष मतों का निरूपण मात्र नहीं है, अपितु तर्क द्वारा समर्थन का प्रयत्न किया गया है, जैसा कि विरोध आने पर वे नैयायिक करते हैं जिन्हें किसी मतविशेष को सिद्ध करना होता है।

श्वेतांबर संप्रदाय मे ग्रंथ-रचना के लिये प्राकृत भाषा का अवलंबन कुछ दीर्घ काल तक बना रहा, जिसके फलस्वरूप हरिभद्र और उनके उत्तराधिकारियों द्वारा लिखे गए *प्रकरणों* की एक धारा हमारे सामने आती है। किंतु दिगंबर संप्रदाय में इसी बीच प्राकृत का उपयोग कम हो गया और संस्कृत का प्रयोग बढ़ गया। फिर भी कुमारकृत *कत्तिगेयाणुवेक्खा*, वट्टकेरकृत *मूलाचार* तथा देवसेनकृत *दर्शनसार*, *भावसंग्रह*, *आराधनासार* आदि ग्रंथ प्राकृत में रचे हुए पाए जाते हैं। यह प्रवृत्ति दशवीं शताब्दी तक कुछ प्रबल रही।

८—जैन लेखकों की सदैव यह अभिलाषा रही है कि जैन धर्म के नैतिक और सदाचार-संबंधी उपदेश, जितना अधिक हो सके, जनसाधारण तक पहुँचें। जैन ग्रंथकारों, विशेषतः गुजरात के निवासियों ने भारतीय प्राकृत साहित्य को अपनी कथात्मक रचनाओं द्वारा खूब संपन्न बनाया। इन रचनाओं में किसी न किसी शलाका पुरुष अर्थात् उत्तम पुरुष के चरित्र का वर्णन किया गया है। भद्रबाहुकृत *वसुदेव-चरित*, पादलिप्तकृत *तरंगवती* आदि ग्रंथ हमें प्राप्त हैं। विमलसूरिकृत *पउमचरिय* चौथी शताब्दी की रचना है जिसमें जैन दृष्टि से राम के चरित्र का प्राकृत पद्य में वर्णन किया गया है; अतएव उसे प्राचीनतम जैन रामायण कह सकते हैं। इसकी रचना ऐसी हुई है कि न तो उसे श्वेतांबर संप्रदाय की कह सकते और न दिगंबर संप्रदाय की; वह जैन समाज की ही संपत्ति कही जा सकती है। संघदास और धर्मदासकृत *वसुदेवहिंडी* प्राकृत गद्य का एक विशाल ग्रंथ है जिसमें वसुदेव के परिभ्रमणों का रोचक वर्णन हुआ है। यह जैन रचना गुणाढ्यकृत बृहत्कथा के तुल्य कही जा सकती है। बृहत्कथा नष्ट हो गई, पर वसुदेवहिंडी जीवित है। यह छठी शताब्दी से पूर्व की रचना है। हरिभद्र ने *समराइच्चकहा* आठवीं शताब्दी में लिखी थी। यह गद्य आख्यान की एक बड़ी सुंदर रचना है। हरिभद्र के प्रायः समकालीन उद्योतनसूरि ने अपनी *कुवलयमालाकथा* वि० सं० ८३६ में लिखी। इसकी विशेषता यह है कि इसमें विभिन्न प्राकृतों का उपयोग किया गया है। शीलाचार्यकृत *महापुरुषचरित* तो जैन पौराणिक कथाओं की खान ही है।

दसवीं शताब्दी से लेकर कोई तीन सौ वर्ष से भी अधिक काल प्राकृत साहित्य के लिये बड़ा समृद्धिशील रहा। इसी काल में हेमचंद्र हुए जिनका *प्राकृतव्याकरण* भारतीय व्याकरण-साहित्य में एक सीमानिर्धारक सिद्ध होता है। इसी समय में धनेश्वर की *सुरसुंदरीचरिय*, महेश्वर की *पचमीकहा*, गुणभद्र का *महावीरचरित्र*, देवचंद्र का *शांतिनाथ चरित*, हेमचंद्र का *कुमारपालचरित*, लक्ष्मणगणी का *सुपासणाहचरिय*, सोमप्रभ का *कुमारपालप्रतिबोध* आदि ग्रंथ रचे गए। *समराइच्चकहा* एवं *महावीरचरिय* चरित्र-वर्णन मात्र नहीं हैं, प्रत्युत ऐसे काव्य हैं जो उसी कोटि के संस्कृत काव्यों से अच्छी समता कर सकते हैं। पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक भी जिनहंस, शुभचंद्र जैसे लेखक प्राकृत रचनाएँ करते रहे, किंतु प्राकृत के लिये यह काल अवनति का था।

९—जैन प्राकृत साहित्य में उपदेश और सुभाषित पद्य की भी कमी नहीं है। *उपदेशमाला*, *पुष्पमाला*, *उपदेशचिंतामणि*, *वज्जालग्ग* आदि इसके सुंदर उदाहरण हैं।

प्राकृत में छोटे-बड़े अनेक स्तोत्र भी हैं; जैसे *ऋषिमंडलस्तोत्र*, *महावीरस्तव* आदि। कुछ स्तोत्र संस्कृत, महाराष्ट्री, मागधी, शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रंश—इन छहों प्रसिद्ध भाषाओं में रचे गए हैं; जैसे धर्मवर्धनकृत *पार्श्वजिनस्तवन* (बारहवीं शताब्दी) और जिनपद्मकृत *शांतिनाथस्तवन* (चौदहवीं शताब्दी)।

१०—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, जैनों ने यथार्थतः केवल अपने धर्म को जनता तक पहुँचाने के ध्येय से ही प्राकृत भाषाओं को साधन रूप से अपनाया था। कालांतर में लेखक संस्कृत रचना की ओर मुड़ गए। तथापि प्राकृत भाषा और साहित्य के परिपोषक रूप मे जैन ही प्रमुखता से हमारे सम्मुख उपस्थित हैं। प्राकृत का सर्वप्रथम कोष *पाइयलच्छीनाममाला* हमे धनपाल से मिला है। हेमचंद्र तो समस्त प्राकृत संसार के महापुरुष ही हैं। उनका *प्राकृतव्याकरण* और *देशी-नाममाला* नामक कोष मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के विकास को समझने के लिये अनुपम साधन हैं। त्रिविक्रम कृत प्राकृत-व्याकरण भी कुछ बातों में बहुत महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है। *शुभचद्र* का प्राकृत व्याकरण भी उपलब्ध है। इन दोनों को व्यवस्थित रूप से प्रकाश मे लाना अभी शेष है।

११—इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राकृत साहित्य को जैनों की देन विशाल भी हैं और महत्त्वपूर्ण भी। उसमें ऐसी भाषा-सामग्री सन्निहित है जैसी अन्यत्र कहीं नहीं पाई जाती। भाषाशास्त्री के लिये इन ग्रंथों का उपयोग अमूल्य है। उनमें ऐसी विविध सूचनाएँ मिलती है जिनसे भारतवर्ष के सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक इतिहास के अनेक अंधकारमय स्थलों पर प्रकाश पड़ता है और बहुत सी उलझनें सुलझती हैं। उनके लेखकों का दृष्टिकोण मानुषिक और उदार रहा है। उन्होंने हमे केवल राजप्रासादो के ही दर्शन नहीं कराए है, प्रत्युत दीन-दरिद्र जनों के मैले-कुचैले गली-कूचों की ओर भी वे हमारी दृष्टि ले गए है।

वसुदेवहिंडी

जैन कथा-साहित्य का महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रंथ

[श्री अगरचंद नाहटा]

भारत का विशाल कथा-साहित्य अनुपम और अद्वितीय है। उसकी विविधता एवं विशालता विस्मयजनक है। एक-एक कथा पर विभिन्न ग्रंथकारों के सैकड़ों तक ग्रंथ पाए जाते हैं। इससे कुशल कहानी-लेखकों के हाथों मूल कथा में परिवर्तन होकर इतने अधिक रूपांतर हो गए है कि मूल कथावस्तु को खोज निकालना एक कठिन समस्या है। वेद, उपनिषद्, पुराण आदि संपूर्ण प्राचीन साहित्य कथाओं के भांडार हैं। रामायण, महाभारत तथा अन्य सैकड़ों उच्च कोटि के स्वतंत्र काव्यों का निर्माण हमारी लोककथाओं और पौराणिक आख्यानों के ही आधार पर हुआ है। बृहत्कथा जैसे कथानकों के संग्रहग्रंथों की भी कमी नहीं है।

इन कथाओं द्वारा केवल मनोरंजन ही नहीं होता, अपितु ज्ञानवृद्धि भी होती है। धर्म और नीति के उपदेशों का हृदयपटल पर गहरा प्रभाव अंकित होने से जीवन-निर्माण में भी इनका बड़ा हाथ है। बच्चे से लेकर बूढ़े तक सभी इनको सुनने के लिये उत्सुक रहते हैं। रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों का तो पुनः पुनः पारायण करते भी लोग, अघाने को कौन कहे, अपने को धन्य और कृतकृत्य मानते हैं। तुलसीकृत रामायण जैसे एक ही कथा-ग्रंथ ने लाखों-करोड़ों व्यक्तियों को प्रभावित कर देश के नैतिक जीवन के निर्माण में कितना बड़ा काम किया, यह तो सर्वविदित ही है।

साहित्य, संस्कृति एवं इतिहास की दृष्टि से हमारा कथा-साहित्य अत्यंत मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण होते हुए भी उसके सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व की ओर ध्यान बहुत कम दिया गया है। हमारा नवशिक्षितवर्ग प्रायः इन ग्रंथों को गपोड़ों से अधिक महत्त्व नहीं देता, और पुराने पंडितों के पास एक श्रद्धा ही संबल है। फिर वैज्ञानिक दृष्टि से इनका उचित मूल्यांकन करे कौन? लोकरुचि दिनोंदिन पौराणिक कथाओं से हट रही है। अतः यदि अब भी इनका वास्तविक

महत्त्व प्रकाश में नहीं आया तो पठन-पाठन के अभाव में इस विशाल साहित्य का विनाश अवश्यंभावी है।

भारतीय कथा-साहित्य में जैन कथा-साहित्य का स्थान कई दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसके संबंध में जैन साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् मुनि जिनविजय जी का कथन है—

"जैन कथा-साहित्य लोकजीवन को उन्नत एवं चरित्रशील बनानेवाली नैतिक शिक्षा की प्रेरणा का एक उत्कृष्ट वाङ्मय है। जैन कथाकारों का एकमात्र लक्ष्य जनता में दान, शील, तप और सद्भावस्वरूप सार्वधर्म का विकास और प्रसार करना रहा है। जैन कथाकारो ने सद्धर्म एवं सन्मार्ग के जो ये चार प्रकार बतलाए हैं वे संसार के सभी मनुष्यों का सदा कल्याण करनेवाले हैं। चाहे परलोक को कोई माने या नहीं, चाहे स्वर्ग और नरक को कोई माने या नहीं, चाहे पुण्य और पाप जैसा कोई शुभाशुभ कर्म और उसका अच्छा या बुरा फल होनेवाला हो या नहीं, लेकिन यह चतुर्विध धर्म इसके पालन करनेवाले मनुष्य या मनुष्य-समाज के जीवन को निश्चित रूप से सुखी, संस्कारी और सत्कर्मी बना सकता है।...ये गुण सार्वभौम इसलिये है कि इनका पालन संसार का हर कोई व्यक्ति बिना किसी धर्म, संप्रदाय, मत या पक्ष के बंधन या बाधा के कर सकता है।...सनातन इसलिये हैं कि संसार में कभी कोई ऐसी परिस्थिति नहीं उत्पन्न हो सकती जिसमें इन गुणों का पालन मनुष्य के लिये अहितकर या अशक्य हो सकता हो। यह है इन जैन कथाग्रंथों का श्रेष्ठतम नैतिक महत्त्व।

"इसी प्रकार सांस्कृतिक महत्त्व की दृष्टि से भी इन कथाग्रंथों का वैसा ही उच्चतम स्थान है। भारतवर्ष के पिछले ढाई हजार वर्ष के सांस्कृतिक इतिहास का सुरेख चित्रपट अंकित करने मे जितनी विश्वस्त और विस्तृत उपादान-सामग्री इन कथाग्रंथों से मिल सकती है उतनी अन्य किसी प्रकार के साहित्य से नहीं। इन कथाओं में भारत के भिन्न भिन्न धर्म, संप्रदाय, राष्ट्र, समाज, वर्ण आदि के विविध कोटि के मनुष्यों के नाना प्रकार के आचार, विचार, व्यवहार, सिद्धांत, आदर्श, शिक्षण, संस्कार, नोति, रीति, जीवनपद्धति, राजतंत्र, वाणिज्य, व्यवसाय, अर्थोपार्जन, समाज-संगठन, धर्मानुष्ठान एवं आत्मसाधन इत्यादि के निर्देशक बहुविध वर्णन निबद्ध किए हुए हैं, जिनके आधार पर हम प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास का सर्वांगीण और सर्वतोमुखी मानचित्र तैयार कर सकते हैं।

जर्मनी के प्रोफेसर हर्टेल, विंटरनित्स, लॉयमान आदि भारतीय विद्या एवं संस्कृति के प्रखर पंडितों ने जैन कथा-साहित्य के इस महत्त्व का मूल्यांकन बहुत पहले ही कर लिया था और उन्होंने इस विषय में अनेक मार्गदर्शक संशोधन, अन्वेषण, समालोचन और संपादन आदि का उत्तम कार्य भी कर दिखाया था। लेकिन दुर्भाग्य से कहो या अज्ञान से, हमारे भारतवर्ष के विद्वानों का इस विषय की ओर अभी तक स्थूल दृष्टिपात भी नहीं हो रहा है।

"इस जैन कथावाङ्मय का इतिहास उतना ही पुराना है जितना जैन तत्त्वज्ञान और जैन सिद्धांत का इतिहास। अनेकानेक जैन कथाएँ तो जैन वाङ्मय का सबसे प्राचीन भाग समझे जानेवाले आगमों मे ही वर्णित है। इन आगमसूचित कथाओं की वस्तु का आधार लेकर बाद में होनेवाले आचार्यो ने अनेक स्वतंत्र कथा-ग्रंथ रचे और मूल कथावस्तु में फिर अनेक अवांतर कथाओं का संयोजन कर इस साहित्य को खूब विकसित और विस्तृत बनाया। इन कथा-ग्रंथों मे कुछ तो पुराणों की पद्धति पर रचे हुए हैं और कुछ आख्यायिकाओं की शैली पर। उपलब्ध ग्रंथों में पुराण-पद्धति पर रचा हुआ सबसे प्राचीन और सबसे बड़ा कथा-ग्रंथ "वसुदेवहिंडी" है, जो प्राकृत भाषा में गद्यबहुल आकर कथा-ग्रंथ है। इस ग्रंथ की कथा के उपक्रम का आधार तो हरिवंश अर्थात् यदुवंश मे उत्पन्न होनेवाला वसुदेव दशार है जो संस्कृत पुराण महाभारत और हरिवंश में वर्णित वासुदेव कृष्ण का पिता है। परंतु गुणाढ्य की बृहत्कथा की तरह इसमें सैकड़ों ही अवांतर कथाएँ गुंफित कर दी गई है जिनमे प्रायः सभी जैन तीर्थंकरो के तथा अन्यान्य चक्रवर्ती आदि शलाका पुरुषों के एवं अनेक ऋषि, मुनि, विद्याधर, देव-देवी आदि के चरित्र भी वर्णित हैं। वसुदेवहिंडी की कथाएँ प्राय संक्षेप में और साररूप मे कही गई हैं। इन कथाओं में से कुछ को चुन-चुनकर पीछे के आचार्यों ने छोटे बड़े अनेक स्वतंत्र कथा-ग्रंथों की रचना की और उन संक्षिप्त कथाओं को और भी अधिक पल्लवित किया। वसुदेवहिंडी नामक ग्रंथ जो वर्त्तमान में उपलब्ध है उसकी संकलना संघदास क्षमाश्रमण नामक आचार्य ने की है जो विक्रम की चौथी-पाँचवीं शताब्दी में हुए मालूम होते हैं।"

उपर्युक्त उद्धरण में मुनि जी ने जिस महत्त्वपूर्ण प्राचीन, पौराणिक कथा-ग्रंथ 'वसुदेवहिंडी' का निर्देश किया है उसी का संक्षिप्त परिचय यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।

'वसुदेवहिंडी' का अपर नाम 'वसुदेवचरित' है। इसमें पुरुषोत्तम कृष्ण के पिता वसुदेव की प्रणय-कथा की प्रधानता है। प्राकृत एवं गुजराती में 'हिंड' धातु का अर्थ 'चलना, फिरना, परिभ्रमण करना' है। प्रस्तुत ग्रंथ के अनुसार वसुदेव ने यौवनावस्था में गृह त्यागकर १०० (२६+७१=१००) वर्षों तक परिभ्रमण करते हुए अनेक मानव एवं विद्याधर कन्याओं से विवाह किया और विविध अनुभव प्राप्त किए थे। इस ग्रंथ में उन्हीं के वर्णन की मुख्यता होने से यह 'वसुदेवहिंडी' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मूल ग्रंथकार द्वारा प्रदत्त नाम तो 'वसुदेवचरित' है, पर पीछे अपर नाम 'वसुदेवहिंडी' ही विशेष रूप से प्रसिद्ध हो गया।

प्रस्तुत ग्रंथ का उल्लेख अनेक प्राचीन ग्रंथकारों ने बड़े आदर के साथ किया है। कई विद्वानों ने इसकी कथाओं पर स्वतंत्र ग्रंथ रचे है। उल्लेख करनेवाले सर्वप्रथम आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण है जिन्होंने 'विशेषावश्यक महाभाष्य' नामक विशिष्ट एवं विस्तृत ग्रंथ का निर्माण वि० सं० ६६६ (शाके ५३१) में चैत्र शुक्ल १५, बुधवार को किया था। इनके 'विशेषणवती' नामक प्रकरण में 'वसुदेवचरित' का दो बार निर्देश है।

इसके पश्चात् वि० सं० ७३२ में 'नंदीचूर्णि' बनानेवाले जिनदासगणि के आवश्यक चूर्णि में श्री ऋषभदेव के चरित्र-निरूपण में वल्कलचीरी और प्रसन्नचंद्र के कथा-प्रसग मे प्रस्तुत ग्रंथ के सोल्लेख उद्धरण दिए हैं। इससे सातवीं-आठवीं शताब्दी मे इसकी सुप्रसिद्धि होने का स्पष्ट पता चलता है।

जैन साहित्य मे इस ग्रंथ के बहुत प्रसिद्ध होने पर भी बृहदाकार होने के कारण इसका पठन-पाठन सीमित ही रहा। इसके सुंदर और श्रमसाध्य संपादन का कार्य मुनि चतुरविजय जी एवं उनके विद्वान् शिष्य पुण्यविजय जी ने बीस वर्ष हुए प्रारंभ किया था और संघदासगणि-रचित प्रथम खंड श्री जैन आत्मानंद सभा से प्रकाशित हो चुका है। फिर भी प्राकृत भाषा में होने के कारण यह ग्रंथ सर्वजनसुलभ नहीं हो सका। अभी दो वर्ष हुए उक्त सभा ने ही प्रो० भोगीलाल सांडेसरा से गुजराती मे इसका प्रामाणिक अनुवाद करा के प्रकाशित किया है जिससे अनुवादक ने एक विद्वत्तापूर्ण उपोद्घात भी लिखकर ग्रंथ के महत्त्व को भली भाँति स्पष्ट किया है। उसी के आधार पर ग्रंथ का परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

'वसुदेवहिंडी' का प्रथम खंड छः विभागों में विभक्त है—(१) कथा की उत्पत्ति, (२) पीठिका, (३) मुख, (४) प्रतिमुख, (५) शरीर और (६) उपसंहार। प्रथम तीन विभागों को तो कथा का प्रास्ताविक ही समझना चाहिए, यद्यपि प्रथम विभाग में तपश्चर्या के फलस्वरूप बत्तीस कन्याओं से विवाह कर सुख भोगनेवाले धम्मिल्ल सार्थवाह की विस्तृत कथा दी गई है, जो विषयांतर सी लगती है।

चौथे अर्थात् प्रतिमुख नामक विभाग से ही मूल कथा का आरंभ समझना चाहिए। कथा के प्रारंभ का प्रसंग इस प्रकार है—पुरुषोत्तम कृष्ण के रुक्मिणी रानी से उत्पन्न सांबकुमार का विवाह भामा के पुत्र सुभानु के लिये एकत्र हुई १०८ कन्याओं से हो गया। तब प्रद्युम्न ने वसुदेव जी से कहा कि आपने तो सौ वर्षों तक भ्रमण करके विवाह किए, पर सांब को देखिए, उसे अनायास ही १०८ पत्नियों की प्राप्ति हो गई। यह सुनकर वसुदेव जी ने प्रद्युम्न से कहा कि सांब तो कुएँ के डुंडुभ के सदृश सहज-प्राप्त पत्नियों एवं भोग-विलास से संतुष्ट है। मैंने परि-भ्रमण कर जिन सुख-दुःखों का अनुभव किया वे किसी बिरले व्यक्ति को ही प्राप्त हुए होंगे। इसपर प्रद्युम्न को वसुदेव जी के भ्रमण-वृत्तांत सुनने की उत्कंठा हुई और तब वसुदेव जी ने वह संपूर्ण वृत्तांत कह सुनाया, जो ग्रंथ मे वर्णित है।

वसुदेव जी की आत्मकथा का वास्तविक विस्तार तो पाँचवे विभाग से होता है। लंभक-संज्ञक अध्यायों का प्रारंभ भी यहीं से होता है। उपलब्ध प्रथम खंड अट्ठाईस लंभकों का है, जिनमे से मध्य के दो लंभक (१९,२०) प्राप्त नहीं है और अट्ठाईसवाँ अपूर्ण मिलता है। उसके आगे का 'उपसंहार' नामक छठा विभाग भी अनुपलब्ध है जिसकी खोज होना आवश्यक है। अनुपलब्ध लंभकों में एक का नाम 'प्रियदर्शना' लंभक होना चाहिए, क्योंकि अंतिम 'देवकी' लंभक मे वसुदेव की पत्नियों के नाम दिए हैं जिनमें प्रियदर्शना का नाम है, किंतु प्राप्त लंभकों मे उसकी प्राप्ति की कथा नहीं मिलती।

ग्रंथ में वसुदेव की प्रणय-कथा की प्रधानता होनेपर भी अवांतर रूप से प्रसंग-प्रसंग पर अनेक अन्य कथानक एवं जैन तीर्थंकरों, चक्रवर्त्तियो के चरित भी दिए गए हैं। पीठिका में पुरुषोत्तम कृष्ण, उनकी पटरानियों तथा सांब प्रद्युम्नादि पुत्रों का वर्णन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्राचीन जैनागमों में श्रीकृष्ण के संबंध में महत्त्व-

पूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। परंतु आगमों के परवर्ती साहित्य के रूप में कृष्ण-चरित संबंधी सामग्री इसी ग्रंथ में प्राप्त होती है। कृष्ण के ऐतिहासिक जीवनचरित के लेखन में इससे बहुमूल्य सहायता मिल सकती है, क्योंकि परवर्ती ग्रंथों में बहुत सी कल्पना से उद्भावित बातें घुल-मिल गई हैं। इनकी प्रामाणिकता की जॉच प्राचीन साहित्य के आधार पर ही की जा सकती है। ग्रंथ का अंतिम अर्थात् अट्ठाईसवॉं 'देवकी' लंभक समग्र रूप में प्राप्त होने पर, संभव है, कृष्ण-जन्म संबंधी महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर भी नया प्रकाश पड़े। अनेक परवर्त्ती कथानकों का प्राचीन रूप इस ग्रंथ में प्राप्त होने के कारण इसका महत्त्व बहुत अधिक है।

अप्रकाशित मध्यम खंड—

वसुदेवहिंडी' का प्रथम खंड संघदासगणि वाचक रचित है। वैसे तो वह ग्रंथ पूर्ण ही है, पर उसके अठारहवें 'प्रियंगु सुंदरी' लंभक के अनुसंधान में धर्मसेन गणि महत्तर नामक जैनाचार्य ने ७१ लंभकों और १७००० श्लोक-परिमाण वाले मध्यम खंड का निर्माण कर इसके साथ जोड़ दिया है। ग्रंथ की मध्यवर्त्ती कथा के अनुसंधान मे रचने के कारण ही इसका नाम 'मध्यम खंड' रखा गया है। वसुदेव ने सौ वर्ष तक भ्रमण कर विवाह किए, यह बात तो प्रथम खंड (मूलग्रंथ) मे लिखी है; पर सौ विवाह किए और सौ लंभकों का ग्रंथ बनाने का संघदास याचक का उद्देश्य था, इसका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। अत. धर्मसेनगणि ने ग्रंथ (प्रथम खंड) के अंत में उपसंहार देख ग्रथ का द्वितीय खड रचने का तो अवकाश पाया नहीं, मध्यम खंड यह कहते हुए जोड़ दिया कि वसुदेव जी ने सौ वर्षों के पर्यटन मे सौ विवाह किए थे, जिनमें से उनतीस का वर्णन तो पूर्व ग्रंथकार कर चुके हैं, अवशिष्ट इकहत्तर पत्नियों के विवाह-संबंध का वर्णन मैं कर रहा हूँ।

जैनेतर ग्रंथों से इस ग्रंथ का तुलनात्मक अध्ययन करने मे सुभीता हो, इसलिये यहॉं प्रथम खंड में उल्लिखित वसुदेव की उनतीस पत्नियों के नाम तथा पुरुषोत्तम कृष्ण की पत्नियों एवं पुत्रों के नाम दिए जाते है।

लंभक-नाम—

(१) श्यामाविजया, (२) श्यामली, (३) गंधर्वदत्ता, (४) नीलयशा, (५) सोमश्री, (६) मित्रश्री, धनश्री, (७) कपिला, (८) पद्मा, (९) अश्वसेना, (१०) पुंड्रा, (११) रक्तवती, (१२) सोमश्री, (१३) वेगवती, (१४) मदनवेगा, (१५) वेगवती, (१६) बालचंद्रा, (१७) बंधुमती, (१८) प्रियसुंदरी, (१९) ×

(२०) × (२१) केतुमती, (२२) प्रभावती, (२३) भद्रमित्रा, (२४, २५) पद्मावती, (२६) ललितश्री, (२७) रोहिणी, (२८) देवकी।

कृष्ण की रानियाँ—

(१) सत्यभामा (पुत्र भानुकुमार), (२) पद्मावती, (३) गौरी, (४) गांधारी, (५) लक्ष्मणा, (६) सुसीमा, (७) जांबवती, (पुत्र सांबकुमार) (८) रुक्मिणी (पुत्र प्रद्युम्नकुमार)।

ग्रंथ के अनुवादक प्रो० भोगीलाल साँडेसरा ने अपने विस्तृत उपोद्घात में इस ग्रंथ के विविध महत्त्व की सांगोपांग चर्चा की है। बृहत्कथा से इसकी तुलना, इसकी भाषा, और इसमें प्राप्त सामाजिक एवं सांस्कृतिक उल्लेखों की तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण विवेचना है। यहाँ केवल इसकी भाषा और शैली के विषय में उनके मंतव्य के कुछ अंश का (गुजराती से) अनुवाद प्रस्तुत किया जाता है—

केवल प्रथम खंड के विषय में कहा जाय तो भी भाषा की दृष्टि से 'वसुदेवहिंडी' जैन साहित्य का एक विरल ग्रंथ है। इतने प्राचीन काल में लिखा गया लगभग साढ़े दस हजार श्लोक-परिमाण का कथात्मक प्राकृत गद्य-ग्रंथ समस्त भारतीय साहित्य में अब तक कोई दूसरा नहीं मिला है। गद्य में रचे होने के कारण भाषा-विषयक अन्वेषण की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है।

वि० आठवीं शती में सूत्र-ग्रंथों पर रची गई चूर्णियों में जो कथाएँ हैं वे, कुछ को छोड़कर, साहित्यिक सौंदर्य की दृष्टि से नहीं लिखी गई है। मिताक्षरी शैली का प्रयोग होने के कारण उन्हें वे ही पाठक समझ सकते हैं जो उसके कथा-भाग से पूर्व-परिचित हैं। इसके विपरीत कथा-वर्णन की दृष्टि से 'वसुदेवहिंडी' के विस्तार और योजना की विपुलता प्राचीन जैन साहित्य में बेजोड़ है। लेखन-शैली संक्षिप्त अथवा शुष्क नहीं, उसमें जीवित भाषा की लाक्षणिक शक्ति से पुष्ट अत्यंत सरस चित्र प्रस्तुत किए गए है। सामान्यतः उसकी भाषा सरल, रूढ़ एवं व्यावहारिक है। प्राकृत जब जन-समाज मे बोली जाती रही होगी उस काल की लिखी होने के कारण, पिछले काल के साहित्यिक प्राकृत ग्रंथों की तुलना में, 'वसुदेवहिंडी' की भाषा अत्यंत स्वाभाविक जान पड़ती है। संवाद तो प्रायः एकदम बोलचाल की

भाषा में लिखे जान पड़ते हैं। ऐसा होते हुए प्रसंगानुसार अलंकारमय तथा समास-प्रचुर भाषा का भी प्रयोग मिलता है। यह प्रधानतः गद्य ग्रंथ हैं, परंतु बीच बीच में पद्य भी आए हैं।

'वसुदेवहिंडी' में प्रयुक्त कितने ही शब्द किसी भी कोश में नहीं मिलते। उसमें शब्दों के ऐसे प्राचीन रूप मिलते हैं जो पिछले काल के प्राकृत ग्रंथों में भी भाग्य से ही दिखलाई पड़ते हैं।

इस ग्रंथ का सबसे अधिक महत्त्व यह है कि इससे गुणाढ्य की बृहत्कथा की शैली आदि का पता चलता है।

भक्त अखा

[श्री गंगाशंकर बलदेवशंकर पंड्या]

ईसा की सत्रहवीं शती का पूर्वार्द्ध भारत के सांस्कृतिक इतिहास में एक विशेप स्थान रखता है। किसी भी प्रांत मे देखिए, कोई न कोई कवि एक नवीन स्फूर्ति और नवीन प्रेरणा से प्रभावित होकर जनता के दृष्टिकोण को नए साँचे में ढाल रहा है। हिंदी-भाषाभाषी प्रांतों में तुलसी और सूर का अमर कवित्व समाज में प्रकाश फैलाता है, तो गुजरात में अखा, प्रेमानंद और शामल—ये तीन प्रसिद्ध कवि मिलकर एक नई विचारधारा प्रवाहित करते है।

गुजरात में अखा के पहले भी कवि हुए जिनकी कविता का आदि स्रोत ईश्वरानुभूति थी। परंतु नरसी मेहता और मीरा ने जिस मार्ग को अपनाया, अखा की दृष्टि में वही मार्ग प्रगतिशील समाज के लिये पर्याप्त न था। हिंदी साहित्य में सगुण भक्तों के पहले ज्ञानमार्गी कवि कबीर और नानक ने समाज के दोषों को दूर करने का प्रयास किया था। इस प्रयास का प्रसाद हमे उनकी कविता में यत्र-तत्र दृष्टिकोण होता है। गुजरात में ज्ञानमार्गी निराकार-भक्त अखा साकार-भक्त नरसी मेहता के बाद हमें दर्शन देते हैं। वहाँ जैन धर्म के कारण ज्ञान का मार्ग सर्वसुलभ हो चुका था। इसी कारण जैन आचार्यों के बाद सगुणोपासक मीरा और नरसी और इनके बाद निर्गुणोपासक अखा का आविर्भाव हम गुजरात मे देखते हैं।

भक्त अखा का जन्म ऐसे समय में हुआ जब जनता का झुकाव, प्रांत और देश की समृद्धि के कारण, धीरे धीरे अनश्वर को छोड़ नश्वर की ओर हो रहा था। जनता की रुचि को सनातन सत्य की ओर मोड़ना एक महान् कार्य था। अखा के सदृश अनुभवपुष्ट असामान्य व्यक्तित्व ही इस कार्य में सफलता प्राप्त कर सकता था।

अखा का काल ई० सन् १६१५ से १६७४ तक माना जाता है। सच्चे भक्त के नाते अखा ने अपने जीवन के विषय पर विशेष प्रकाश नहीं डाला। फिर भी यह निर्विवाद है कि कवि ने अहमदाबाद के सन्निकट जेतलपुर गाँव में एक सोनार

के घर जन्म लिया और सोलह वर्ष की अवस्था में अहमदाबाद में आकर डेरा डाला। बीस वर्ष की अवस्था में वे पितृविहीन हुए और कुछ समय बाद अपनी छोटी बहिन और अनंतर पत्नी को खोकर घर और संसार से विरक्त हो गए। इस काल को हम कवि का वानप्रस्थाश्रम कह सकते हैं, क्योंकि अब भी संसार-त्याग में उनका निश्चय दृढ़ नहीं हुआ था। एक पड़ोसिन को कवि ने धर्म-बहिन के रूप में स्वीकार किया; परंतु जब उसने भी भक्त पर अविश्वास किया, तब उन्हें सांसारिक संबंधों से पूर्ण रूप से घृणा हो गई। इसके बाद कवि का भ्रमण-काल आरंभ होता है।

युगधारा के अनुसार अखा को मथुरा-वृंदावन के प्रति आकर्षण हुआ। परंतु उनकी मानसिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि वे मीरा के समान इन भक्तिक्षेत्रों में शांति लाभ कर सकते। शांकर अद्वैत मत के अनुयायी को भला मथुरा-वृंदावन का वातावरण कैसे अनुकूल लगता? अखा के गुरु-संबंधी अनुभव को उन्हीं के शब्दों में देखिए—

गुरु कर्या[१] मे गोकुलनाथ, नुगरा[२] मन ने घाली नाथ।
मने मनावी सगुरु थयो[३], पण विचार नगुरा नो नगुरो रह्यो॥

परंतु गुरु की खोज में कवि को काशी-क्षेत्र में सफलता मिली। मणिकर्णिका घाट पर छिपे छिपे उन्होंने खरे वेदांती गुरु ब्रह्मानंद के उपदेशामृत का पान किया। फलस्वरूप ब्रह्मानंद से उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से गुरुदीक्षा पाई और उनके जीवन में गुरु, सखा और सहायक के रिक्त स्थान पर ब्रह्मानंद आ विराजे।

ज्ञानमार्गी के लिये गुरु एक साधन मात्र था, साध्य नहीं। अखा के गुरु ने उन्हें अपने में केंद्रीभूत न कर ईश्वरोन्मुख किया। यही बात कबीर के विषय में कही जा सकती है। रामानंद ने कबीर को 'चेताया', परंतु कबीर गुरु-गान करने के पश्चात् रामानंद के व्यक्तित्व से अभिभूत न हो निराकार परमेश्वर की ओर ही झुके। हाँ, ब्रह्मानंद के बिना अखा और रामानंद के बिना कबीर के जीवन में साथकता न आती। इसी लिये गुरु का साक्षात्कार इन दोनों के जीवन में एक विशेष स्थान रखता है।

गुरु से दीक्षा लेकर अखा गुजरात को लौट आए और विचारों में परिपक्वता आने पर उनके उपदेश कविता-रूप में प्रवाहित हुए। अखा की आठ रचनाएँ—

१—करिया, किया। २—निगुरा। ३—भयो, हुआ।

छप्पय, अखेगीता, चित्तविचारसंवाद, पंचीकरण, गुरुशिष्यसंवाद, अनुभवबिंदु, कैवल्यगीता और परमपदप्राप्ति—गुजराती में है। परंतु वे हिंदी की सार्वदेशिकता से प्रभावित हुए बिना न रह सके और उन्होंने दो ग्रंथरत्न—पंचदशीतात्पर्य और ब्रह्मलीला—हिंदी में लिखकर राष्ट्रभाषा का समादर किया।

गुजरात में वापस आकर अखा समाज में प्रविष्ट हो गए। उनकी कविता में विरक्ति के दृष्टिकोण के स्थान पर समाज में रहकर आत्मशुद्धि के प्रयास की भावना ही विशेष स्पष्ट है। उनकी काव्य-शैली इस बात की द्योतक है कि न तो अखा ने समाज का साथ छोड़ा और न समाज ने अखा का। इसी लिये वे समाज के सुधारक बन सके। गुजरात के दूसरे कवियों के टक्कर में अखा का विशिष्ट स्थान उनके विस्तृत सांसारिक अनुभव और उनकी तीक्ष्ण निरीक्षण-शक्ति पर आधारित है।

अखा ने कभी अपने आपको कवि कहने का दुःसाहस नहीं किया—

ज्ञानी नो[४] कविता न गणीश,
किरण सूर्य ना[५] केम[६] वरणीश ?

कदाचित् अखा को हावभाव वर्णन करनेवाली दूषित काव्य-शैली पसंद न थी। शब्द ही अर्थ या भाव को अभिव्यक्त करने के साधन हैं। यदि कविपरंपरा के अनुयायी शृंगारी शब्दयोजना या शैली के मसाले से भक्तिभावरूपी स्वास्थ्यप्रद भोजन को दूषित करें तो अखा जैसे व्यक्ति को यह कैसे रुचिकर हो सकता था ? संस्कृत भाषा के प्रति भी कवि की उदासीनता का यह एक कारण हो सकता है। संस्कृत साधारण जनता के संपर्क से तो दूर थी ही, मध्यकाल में उसके आश्रय में जिस शृंगारप्रधान रचना का पोषण हुआ, पीछे उसने एक ऐसा विकृत रूप धारण किया जो जनता के मानसिक स्वास्थ्य में बाधक हुआ। भारत के अन्य प्रांतों में भी भक्तिकाल के कवि संभवतः इसी कारण जनभाषा का आश्रय लेकर चले। कबीरदास को ही लीजिए—

सम्किरत है कूपजल, भाषा बहता नीर।
भाषा सतगुरु सहित है, सतमत सरल गभीर ॥

इसी प्रकार की अखा की भी उक्ति है—

संस्कृत बोले ते शुँ[७] थयुँ[८] ?
कांई प्राकृत माँ थी नाशी गयुँ ?

४ - की। ५—का। ६—कैसे। ७—क्या। ८—भयो, हुआ।

इस तीव्र कटाक्ष को संस्कृत के भक्त अनुचित कहें, परंतु इसका कारण स्पष्ट है। हिंदी साहित्य के कठिन काव्य के 'प्रेत" कवि केशवदास भी, जिनके घर में शुक-सारिकाएँ तक संस्कृत बोलती थीं, 'भाषा' में लिखने को बाध्य हुए। जनता तक अपनी बात पहुँचाने का इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही न था। बौद्ध साहित्य के पूर्वकाल का प्राकृत और पाली के प्रति मोह भी जनता की अभिरुचि और कवियों के जनता के निकट पहुँचने के एक स्तुत्य प्रयास का ही प्रतीक है।

अखा की कृतियों की साहित्यिक दृष्टि से परीक्षा करें तो वह शांतरसप्रधान है। कवि की शैली मे समाज की कुरीतियों का उपहास दृष्टिगत होता है। कहा जाता है कि अखा गुजराती भाषा में व्यंग्य-काव्य के आद्य लेखक हैं और हिंदी कवि कबीरदास के समान उन्होंने समाज के अंधविश्वासों की अनूठे ढंग से खिल्ली उड़ाई है। पहले तो अखा से निज के प्रयासों का ही उपहास लीजिए—

तिलक करता त्रेपन बह्यां[९]; जपमाला ना नाकां गयां।
तीरथ फरी फरी[१०] थाक्या चर्ण; तोअे न पहुँच्या हरि ने शर्ण॥

साथ ही कवि ने कबीर के समान, 'पोथी पढ़-पढ़कर मरनेवाले जग' के किताबी कीड़ों की तीव्र शब्दों में आलोचना की है—

ओछु पात्र ने अदकु भण्यो[११], वढकणी वहुए दीकरो[१२] जण्यो।
मारकणो साँड चोमासु महाल्यो, करडकणा कुतरा ने हडकवा हाल्यो।
मरकट ने वली मदिरा पीए, अखा ए थी सऊ को बीए[१३]॥

अर्थात् नीचवृत्तिवाले 'पंडित' से सभी को सावधान रहना चाहिए। लड़नेवाली स्त्री का मान क्या पुत्र-जन्म से बढ़ जायगा? मरकहे साँड़ को बरसात की हरी घास खिलाने से क्या लाभ? कटहे कुत्ते की पागल होने पर और बंदर की उसे मदिरा पिलाने पर जैसी अवस्था होगी, वैसी ही पढ़े-लिखे दुर्वृत्त मनुष्य की भी समझनी चाहिए। इस प्रकार ज्ञानमार्गी कवि ने स्पष्ट शब्दों में ढोंगियों और बकवादियों से जनता को सचेत किया है। अखा के समय में भले ही इसकी आवश्यकता विशेष रूप से रही हो, किंतु वर्तमान काल में हमारी उदार दृष्टि इन कठोर शब्दों में अनावश्यक तीव्र प्रहार ही देखती है। पर एक निराकार-भक्त के लिये सांसारिक पचड़ों का आज भी यही नग्न रूप है।

९—तीन पन बिताए। १०—फिरि फिरि। ११—पढ्यो। १२—बालक। १३—डरे, डरता है।

भक्त अखा के शब्दों की तीक्ष्णता का प्रधान कारण उनका आत्मविश्वास था। उनसे १५० वर्ष पहले इसी मार्ग पर गुजरात में मांडण कवि भी चल चुके थे। मांडण में शब्दचातुर्य और कलानिपुणता का अभाव नहीं। तब भी उनकी अखा जैसी प्रसिद्धि न हो सकी। विषय एक होते हुए भी अखा के कहने का ढंग अनूठा था। बोलचाल की भाषा मे परिचित उपमाओं और प्रचलित कहावतों का उपयोग करके कटाक्ष-चित्र खींचने में अखा को मांडण से अधिक सफलता मिली। राजनीति के क्षेत्र में एक ओर पुस्तकज्ञानी तत्त्ववेत्ता और दूसरी ओर आग से खेलनेवाले अनुभवधनी मे जो अंतर है, वही इन दो कवियों की कविताओं में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। कबीरदास के समान इन दोनों भक्तों ने रूढ़िमार्ग की कटु आलोचना की है, परंतु इन दोनों मे से अखा कबीर के अधिक निकट जान पड़ते हैं।

अखा की रचना में सामयिक परिस्थिति की विश्लेषणात्मक टीका के साथ साथ एक प्रकार की उदासीनता की मानसिक प्रतिक्रिया का चित्र खींचा हुआ मिलता है। गुजरात के वैष्णव संप्रदाय पर कवि की यह कठोर उक्ति है—

शु थयुं नाम वैष्णव धरे,
परसाद टाणे पत्रावला भरे?

इस कथन से भक्त का दृष्टिकोण हमे स्पष्ट रूप से विदित हो जाता है। तब भी, यह कहना कि अखा वैष्णव संप्रदाय के कट्टर विरोधी थे, उनका अपमान करना है। वैष्णव संप्रदाय का बाह्य आडंबर उन्हें पसंद न हो, परंतु उनका हृदय सच्चे तन्मय भक्त की भक्ति को पहचान सकता था। इस भक्ति का साक्षात्कार कवि के शब्दों में ही व्यक्त होता है—

गद्‌गद कंठे गाते थके रोमांचित होये गात्र;
हर्ष आँसु बहु हेत हृदय प्रेम केरू ते पात्र।
खातो पीतो बोलतो देखतो ते सगले राम;
वेध्यु मन रहे तेहनु शिथिल संसारी काम॥

ये शब्द हमें अखा को रामाश्रयी शाखा के श्रेष्ठ भक्त कवियों में विशिष्ट स्थान देने को बाध्य करते हैं। जहाँ कवि को कटु होने की आवश्यकता जान पड़ी वहाँ उसने कठोर शब्दों का प्रयोग किया। परंतु परमेश्वर के सामने उसका हृदय मुग्ध होकर नाचने लगता है—

ज्ञानी विहारी गोपी जशा, तेज[14] ज्ञानी जेने[15] गोपी नी दशा।
गोपी भूली घर ने[16] बार, गोपी भूली कुटुंब परिवार।
पोतानी[17] देह पण भूली गई, प्रसन्न अखा कामनी कुलवत थई[18]।

कदाचित् चुस्त से चुस्त वैष्णव इस प्रकार के प्रेमोन्माद का ऐसा सजीव वर्णन न कर सकता। अखा जैसे विशुद्ध ज्ञानी गोपी-भक्ति के अनुयायी हों, यह आश्चर्य की बात नहीं; कारण, भक्तों की संसार के प्रति उदासीनता के पीछे भगवत्प्रेम की भावुकता का एक सागर लहराता रहता है। भक्त के जीवन की इसी में सार्थकता और महत्ता है, जैसा कबीर की अनूठी उपमा से व्यक्त होता है—

सुमिरन की सुधि यों करे, ज्यों गागर पनिहार।
हाले डोले सुरति में, कहे कबीर बिचार॥

अखा ने वेदांती मार्ग क्यों अपनाया, इसका उत्तर उन्हीं के शब्दों में लीजिए—

पड़े नहीं जे पृथ्वी सुवे, कने नहीं ते शुं खुवे॥
टाढुं ऊँनुं तोऋे आकाश, प्राणी मा नहि मारवण छाश॥
ब्रह्मज्ञान एवु छे[19] अखा, ज्याँ नहि स्वामी सेवक सखा॥

कवि ने यहाँ निराकार-भक्ति की अनुभवगम्य श्रेष्ठता स्पष्ट शब्दों में व्यक्त की है। कवि का तात्पर्य स्पष्ट है—साकार-भक्ति में विकृति हो सकती है, परंतु निराकार-भक्ति का मार्ग शुद्ध है। यह दृष्टिकोण गुजराती साहित्य में एक नवीन दिशा का निर्देशक है। कवि ने मीरा और नरसी का चर्वित-चर्वण करके संतोष-लाभ नहीं किया। अपने को गोपीरूप मानकर कृष्ण की उपासना करने के स्थान पर भक्त अखा ने यथार्थ-दर्शन में अधिक संतोष पाया है। इस यथार्थ-दर्शन के भीतर द्वित्व नहीं; कारण, अखा का यथार्थ-दर्शन आत्म-दर्शन का रूप ले लेता है और यहाँ वे उपनिषत्कारों के बहुत निकट आ जाते हैं।

अखा की उत्कृष्ट भक्ति का दूसरा पक्ष हम उनके—और अपने भी समय की छुआछूत पर प्रकट किए गए उद्गारों में देख सकते हैं। प्राचीन भक्तों के प्रति भी कवि के आदर-वचन हमारे कानों में गूँज उठते हैं—

शवरी शुं संस्कृत भणी हती[20] भाई;
क्याँ वेद वाच्याँ कर्माबाई।

१४—वही। १५—जिसको। १६—और। १७—निजकी। १८—भई। १९—ऐसा है। २०—पढ़ी थी।

व्याध ते शुं भण्यो हतो वेद ;
गणिका शुं भणी हती भेद ।
वली श्वपचनी समझो रीत ;
अखा हरि तेना जेनी[२१] साँची प्रीति ॥

गुजराती भाषा माधुर्यगुण-परिपूर्ण मानी गई है। परंतु अखा की वाणी में हमें इस भाषा की शक्ति का प्रथम परिचय होता है। व्यंग्यात्मक हास्य के साथ ही साथ अकाट्य तर्क और तलदर्शी दार्शनिकता का सुयोग हमें आश्चर्यान्वित कर देता है। एक और बात भी हमें ध्यान में रखनी चाहिए—अखा ने कवियशःप्रार्थी होकर कवि बनने की चेष्टा नहीं की, अपने हृदय की वाणी को व्यक्त करने के लिये उन्हें कवि बनना पड़ा। इस प्रक्रिया में उनकी पुरानी परिपाटी में हमें जो मौलिकता मिलती है, वही उनकी महान् काव्य-सिद्धि है।

इतना सब होते हुए भी यदि हम अखा को "गुजरात का अक्षयरस" और "संत-संप्रदाय की विभूति" मानते हैं तो वह उनकी वाणी के माधुर्य के कारण ही। अखा चाहे अपने को भक्त या ज्ञानी कहकर ही संतोष मान लें, परंतु यथार्थ में हमारे हृदय का स्पर्श तो उन्होंने कवि बनकर ही किया है और वह भी शस्य-श्यामला गुर्जरभूमि के मधुर (माधुर्य-गुणयुक्त) कवि के रूप में--

जेम वर्षा ऋतु जाय शरद ऋतु रूड़ी दीसे ;
दामिनी दोड़ी पलाय वाय मन मलवा हीसे।
चहुँ दिशि चमके चंद द्वद बहु मननो भागे ;
तेम भागे भवभीति काति जेम द्वितीया आगे ॥
विमल वपु होय वारि, चतुर लिंग देखी बहे।
चिदाकाश चिन्मय अखा, ध्याता ध्येय समरस रहे ॥

ऋतु-वर्णन के साथ साथ कवि ने ब्रह्म-साक्षात्कार की अवस्था कितने मोहक शब्दों में प्रकट की है? काव्यमयी भाषा मे सत्य का दर्शन कराना—यही तो कवि का कार्य है। साथ ही भक्तिकाल के कवियों की विशिष्टता तत्त्वज्ञान के सूत्रों को काव्य के रंग में रँगकर दर्शनीय बनाने में है। सचमुच भक्त अखा गुजरात में ही नहीं, अपितु भारतवर्ष के कवियों और भक्तों में एक विशेष स्थान रखते हैं।

२१—उसका, जिसकी।

वैदेहीपुत्र अजातशत्रु और उसकी कूटनीति

[श्री रत्नशंकर प्रसाद]

शैशुनाक वंश के प्रतापी राजा बिंबिसार की लिच्छवि रानी से (जिसका नाम कूणिका[1] और चेल्लना[2] भी था) उत्पन्न कुमार अजातशत्रु मगधराज श्रेणिक बिंबिसार का उत्तराधिकारी हुआ। बौद्ध साहित्य के दीघनिकाय प्रभृति ग्रंथों में कहीं कहीं अजातशत्रु के साथ 'वैदेहीपुत्र' विशेषण लगा मिलता है (वैदेहीपुत्तो अजातसत्तु)। इस विशेषण के पीछे मगध-लिच्छवि संबंध का पूरा इतिहास है।

प्राग्बौद्ध काल के दो राज्य विदेह और लिच्छवि बुद्ध के पूर्व ही एक हो चुके थे। यह संलयन विदेह में हुई राज्यक्रांति के परिणाम स्वरूप हुआ जिसमें बलात्कार के अभियोग में राजा को प्राणदंड[3] देकर विदेहों ने जनक-परंपरा का अंत कर दिया। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार अंतिम विदेह राजा (जनक) कराल तथा विष्णुपुराण[4] के अनुसार अंतिम जनक कृत थे। अस्तु, विदेह और लिच्छवि एकतंत्र हो गए। यह संयोग किंवा संलयन ऐसा हुआ जिसमें विदेहों की स्थिति कुछ गौण थी। यह कहना अधिक उचित होगा कि स्वेच्छाचारी राजतंत्र से मुक्ति पाकर विदेहों ने अपने को लिच्छवियों में विलीन कर दिया। जैन ग्रंथ निरयावली सूत्र के उल्लेखानुसार वैशाली के लिच्छविराज चेटक की भगिनी क्षत्रियाणी त्रिशला[5] (विदेहदत्ता, प्रियकारिणी) तीर्थंकर महावीर की माता तथा चेटक की पुत्री चेल्लना मगधराज बिंबसार की रानी थी।[6] महावीर लिच्छवियों

१—मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ० ७२, परखम मूर्ति के विषय में श्री जायसवाल की स्थापना, जर्नल ऑव बिहार ऐंड उडीसा रिसर्च सोसायटी, भाग ५ पृ० ५५० तथा भाग ६ पृ० १७३; कथाकोष।

२—निरयावली सूत्र। ३—करालश्च वैदेहः, कौ० अर्थ० ६।७

४—कृतौ सतिष्ठतेय जनकवंशः, ४।५।१३

५—जैकोबी, 'जैनसूत्राज़', एस० बी० ई० वॉल्यूम २२ पृ० १६३

६—वही, भूमिका, पृ० १३

की ज्ञातृ-शाखा में थे। कुछ अर्वाचीन विद्वान् वर्तमान जैथरिया भूमिहारों को उसी ज्ञातृकुल का अवतंस मानते हैं। अब भी जैथरियों का उक्त प्रदेश में प्रामुख्य है।

लिच्छवि राजधानी वैशाली के पार्श्ववर्ती नगर कुंडग्राम या कुंडपुर[7] तथा वाणिज्यग्राम और उससे पूर्वोत्तर में स्थित कोल्लाग[8] ज्ञातृबहुल थे। इन स्थानों में चैत्य-पूजा-विशेष रूप से होती थी। तीर्थंकर महावीर कोल्लाग-निवासी थे।[9] कोल्लाग के उपकंठ पर स्थित द्विपलाश चैत्य विशिष्ट रूप से उल्लेख्य है, जो 'नायसंडे उज्जाने' (ज्ञातृखंडे उद्याने) अवस्थित था। अवश्य ही यह स्थल व्रात्य-बीज कहा जा सकता है, जहाँ के निवासी अहिंसक अमांसभोजी जीवन व्यतीत करते हुए चैत्योपासना में प्रवृत्त थे।[10]

बौद्ध वाङ्मय में प्राप्त उल्लेखों द्वारा लक्षित होता है कि बिंबिसार युद्धेच्छु शासक नहीं था। अन्य राजाओं के साथ उसका भाव सदा मैत्रीपूर्ण ही रहा। उसने अंग विजय किया, पर वह एक ऐसा अपवाद था जैसे अशोक द्वारा कलिंग-विजय। अंग-विजय[11] को छोड़ उसे जीवन में कोई ऐसा युद्ध नहीं करना पड़ा जिसमें मगध की प्रतिष्ठा अथवा उसके जय-पराजय का प्रश्न निहित होता।[11] महावग्ग इसके लिये भी एक कारण देता है। बिंबिसार के पिता भातिय (दीपवंश) को अंगराज ने हराया था। बिंबिसार ने, जो 'महावंश' के अनुसार अपने पिता के द्वारा पंद्रह वर्ष की अवस्था में ही अभिषिक्त हुआ था, केवल पिता के पराजय के प्रतिकार स्वरूप अंग विजय किया; शेष जीवन उसने अविग्रह की स्थिति में बिताया। श्री भांडारकर के स्थापनानुसार बिंबिसार ने वज्जियों पर भी चढ़ाई की थी, जिसके उपरांत उसने लिच्छवि रानी से परिणय किया (कारमाइकल लेक्चर्स, सन् १९१८)। किंतु परिस्थितियाँ कुछ और संकेत करती हैं।

७—बसाढ़ के निकट वर्तमान वसुकुंड, केंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, जिल्द १, पृ० १५७।

८—डा० हार्नली, उवासगदसाओ, जिल्द २, पृ० ४ पादटिप्पणी।

९—मज्झिमनिकाय के सामगाम सुत्त के अनुसार वे नालदावासी थे—म० नि० अ० क० ४४१, पादटिप्पणी।

१०—जै० सू० भाग २, एस० बी० ई० वॉल्यूम ६५, पृ० ४१६

११—A death-struggle was going on between Magadh and Champa.—रिज़ डैविड्स, बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० २६०

अंग राज्य गंगा के उत्तर और दक्षिण दोनों ओर था जिसके उत्तरी भाग की संज्ञा बौद्धकाल में अगुत्तराप (अंग + उत्तर + आप) थी, जो निश्चय ही कौशिकी-सदानीरा के मध्य में होने से उपनिषत्कालीन विदेह राज्य में था, जैसा बृहद् विष्णुपुराण में आए 'कौशिकीं तु समारभ्य...मिथिला नाम नगरी' से भी स्पष्ट है। जब मगध ने अंग (चंपा) विजय किया तो स्वाभाविक था कि लिच्छवि उसे प्राकृतिक सीमा का अतिक्रमण कर गंगा के उत्तर में धनधान्यपूर्ण अगुत्तराप की ओर बढ़ने से रोकते और विदेह की प्राचीन भूमि (अगुत्तराप) को पुनः लेने की चेष्टा करते जो उनके हाथों से निकल गई थी। किंतु जब बिंबिसार ने चंपा को विजय कर लिया तो अंग के गंगोत्तरीय प्रदेश अगुत्तराप को क्यों छोड़ता, जिसके केवल आपण नामक निगम में ही बीस सहस्र दूकानें थीं।[१२] अवश्य बिंबिसार को अंग-विजय के परिणामस्वरूप लिच्छवियुद्ध करना पड़ा, जिसमें लिच्छवियों को अगुत्तराप पर मगध का अधिकार स्वीकार करते हुए कन्योपायन देकर संधि करनी पड़ी। युद्ध का और कोई कारण नहीं जान पड़ता। अस्तु, उदीयमान मगध के राजा बिंबिसार को प्रबल और प्रतिष्ठित लिच्छवियों से कन्योपायन पाकर उसी प्रकार गर्व का अनुभव हुआ होगा जिस प्रकार शताब्दियों बाद गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त को अपने को लिच्छवि-दौहित्र कहलाने में; और इसी श्रेष्ठ्य किंवा गर्व का द्योतन अजातशत्रु कुणीक के 'वैदेहीपुत्र' विशेषण में भी निहित है। यह विशेषण न लगाने से बृहदारण्यक के काश्य अजातशत्रु से भी भ्रम संभव है।[१३]

बिंबिसार ने प्रात्यंतिक शक्तियों से वैवाहिक संबंध स्थापित कर अविग्रह की स्थिति को दृढ़ किया। पश्चिम में कोशलनरेश महाकोशल की पुत्री तथा तत्कालीन कोशल-नृप प्रसेनजित की भगिनी वासवी या कोसला और मद्रराज की पुत्री क्षेमा से तथा उत्तर में लिच्छवि राजा चेटक की पुत्री कूणिका या चेल्लना से विवाह कर उसने उत्तरापथ की दो महान् शक्तियों से ऋजु संबंध बनाया। पूर्व में अंग मगध के अंगीभूत हो चुका था। कलिंग का कोई महत्त्व न था। यद्यपि कथासरित्सागर में सोमदेव ने कलिंगराज कलिंगदत्त और उसकी पुत्री कलिंगसेना का वर्णन किया है, पर तात्कालीन साहित्य में कलिंग को कोई महत्त्व नहीं प्राप्त है। इस प्रकार परोक्ष में की गई इन संधियों द्वारा आक्रमण-भय से रहित मगध के लिये वह उन्नति का

१२—मज्झिमनिकाय पोतलिय सुत्तंत (अट्ठकथा)

१३—सहोवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति—बृ० उप०, ३।२।१

पथ बना चुका था। आगे आनेवाले समय की राजनीति में भी इन विवाहों का महत्त्व क्रियाशील रहा। बौद्ध साहित्य में बिंबिसार की रानियों में से केवल खेमा और कोसला का उल्लेख है। वासवी कोसला का मूल नाम था। यह तिब्बती दुलवा में प्राप्त है और तिब्बती साहित्य के आधार पर रॉकहिल द्वारा लिखित 'लाइफ ऑव बुद्ध' (पृ० ६३, ६४) में उल्लिखित है। कोसला नाम का संबंध कोशल राज्य और वासवी के पिता महाकोशल से ही मानना चाहिए। जिस प्रकार कोशलराज की कन्या वासवी 'कोसला' नाम से प्रतिष्ठित थी, निस्संदेह उसी प्रकार विदेह और लिच्छवियों के संयुक्त राज्य की कन्या कूणिका या चेल्लना 'वैदेही' नाम से संबोधित होती थी। वासवी से कोई पुत्र न था (बौद्ध साहित्य में अजातशत्रु को कोसला का ही पुत्र कहा है)। कूणिका से अजातशत्रु उत्पन्न हुआ; इसी से उसका नाम कुणीक हुआ, जैसे ब्राह्मणी रूपसारी से उत्पन्न बुद्ध के अग्रश्रावक उपतिष्य का सारिपुत्र।

तात्कालीन बौद्ध साहित्य में अजातशत्रु कुणीक को अविकल रूप से 'वैदेहीपुत्र' कहा गया है, किंतु बाद की रची अट्ठकथाओं मे तथ्य उलट दिया गया और 'वैदेहीपुत्र' का अर्थ करते हुए शास्त्रीय कर्षण द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई कि कुणीक महाकोशल की पुत्री का पुत्र था, न कि लिच्छवि रानी का; यही नहीं अपितु यह भी कि बिंबिसार के कोई लिच्छवि रानी ही न थी। अट्ठकथा समझाती है कि जिस अर्थ में आनंद (जो शाक्य थे) को 'विदेह मुनि' कहा गया है उसी अर्थ में कोसला का नाम 'वैदेही' था। वेद (=ज्ञान) का जो ईहन (=प्रयत्न) करे वह वैदेह।[१४] इसे ठीक मानने की रुचि संभव थी, पर तत्कालीन वाङ्मय में न होकर इसका परवर्ती बौद्ध साहित्य में होना संदेहजनक है। इस प्रकार तो इसकी और भी व्याख्याएँ हो सकती हैं। तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में वैदेही का अर्थ 'विशिष्ट देह संबंधिनी' आया है।[१५] यही क्यों, कौटिल्य के 'वाणिजको वृत्तिक्षीणः प्रज्ञाशौचयुक्तो वैदेहकव्यंजकः'[१६] से तो अजातशत्रु की माता को वणिक्पुत्री भी बनाया जा सकता है! निश्चय ही तीर्थंकर महावीर की रक्तसंबंधिनी लिच्छवि राजकन्या के मगध राजकुल में आने के तथ्य को उच्छिन्न कर शाब्दिक भ्रमजाल द्वारा सत्य को बाँधने

१४—दीघ० (महाबोधि सं०) पृ० १७, पादटिप्पणी।

१५—वेदिक इंडेक्स, जिल्द २, पृ० २९८

१६—अ० शा० १।११।१४

और अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा परवर्ती प्रतिवादिभयंकर बौद्धाचार्यों ने की, और उस समय की जब कि बौद्ध-संघ में वज्जीपुत्तकों (वैशालिक भिक्षुओं) का विद्रोह प्रबल हो गया था और उन्हें यत्नपूर्वक अलग किया जा रहा था। श्री भांडारकर के मौलिक स्थापनानुसार, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है, बिंबिसार का लिच्छवि कुमारी से विवाह अवश्य हुआ था, और वह मगध-लिच्छवि युद्ध के परिणाम-स्वरूप हुआ था।[१७] श्री बिमलचरण ला ने इसका खंडन किया है परंतु अभय राजकुमार की कथा के आधार पर बिंबिसार-लिच्छवि युद्ध का होना वे भी स्वीकार करते हैं।[१८] अस्तु, अजातशत्रु के वैदेहीपुत्र होने में कोई संदेह नहीं।

अजातशत्रु की कूटनीतिज्ञता के परिचय के लिये तत्कालीन राजनीतिक कलह के साथ साथ चलनेवाले सांप्रदायिक कूटचक्र को भी जानना आवश्यक है, जो आगे की पंक्तियों से क्रमशः स्पष्ट होगा। ऊपर कहा जा चुका है कि लिच्छवि रानी कूणिका तीर्थंकर की रक्तसंबंधिनी थी; अतः उसमें जैन भावना और निर्ग्रंथवाद के प्रति सहानुभूति स्वाभाविकी थी।[१९] इधर वासवी तथा खेमा पर बौद्ध श्रमणवाद की छाया स्पष्ट थी। वासवी का, पति के साथ पितृकुल भी तथागत में श्रद्धावान् था और खेमा को तो बुद्ध ने महाप्रज्ञाओं में प्रधान माना था।[२०] इस प्रकार बिंबिसार के कुल में दो परस्पर विरोधी तत्त्वोंवाली धाराएँ वर्तमान थीं। वैदेहीपुत्र अजातशत्रु कुणीक में लिच्छवि रक्त तो था ही, उसमें अबौद्ध किंवा बुद्धविरोधी भावना भी थी, भले ही राजनीति की दृष्टि से आवश्यक मात्रा में ही रही हो। बौद्ध साहित्य में देवदत्त-कुणीक अभिसंधि द्वारा तीन बार बुद्ध-हत्या का उपक्रम भी दर्शित है।[२१] उसमे कुणीक का चित्रण सदैव अधार्मिक और पापेच्छु राजा के रूप में हुआ, यहाँ तक कि उसे पितृघात का भी दोषी ठहराया गया है। बौद्ध ग्रंथों के कतिपय स्थलों पर आए विवरणों द्वारा ज्ञात होता है कि मल्लों के निगम अनूपिया में आकर प्रव्रजित शाक्य देवदत्त आयुपर्यंत बुद्ध से अविग्रह की स्थिति में रहा और कुणीक उसका सत्कार

१७—कारमाइकल लेक्चर्स, १९१८, पृ० ७४

१८—'सम क्षत्रिय ट्राइब्ज़ ऑव एंशंट इंडिया', पृ० १०६ ११०

१९—ना० प्र० पत्रिका, भाग १० अंक ४, पृ० ५८६

२०—एतदग्गवग्ग, बु० च०, ४७१

२१—विनयपिटक चुल्लवग्ग संघभेद स्कधक, ४८४-८५, ८६-८७

करता था।[२२] देवदत्त भिक्षु-संघ पर अधिकार करना चाहता था और अपना यह मंतव्य उसने बुद्ध पर प्रकट भी किया था।[२३] श्रामण्यफलसूत्र और महापरिनिर्वाण-सूत्र में अजात का बुद्ध के प्रति आकर्षण लक्षित है, पर बौद्ध धर्म से वह अपने विचारों का कभी हार्दिक समन्वय नहीं करा सका।[२४] परंतु इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें धर्मजिज्ञासा या पुण्येच्छा का अभाव था। उसमें पुण्येच्छा थी और स्वाभाविकी थी, इसका द्योतन वही श्रामण्यफलसूत्र करता है जो अंत में उसे मलिनहृदय और पापात्मा घोषित करता है। हाँ, उसकी महत्त्वाकांक्षा सदैव अपराजित रही। एक वाक्य में, उसके हृदय पर बुद्धि का अंकुश प्रबल रहा। श्रामण्यफलसूत्र में अजातशत्रु शारदीय पूर्णिमा की रात्रि में प्रासाद के ऊपरी तल पर बैठी अपनी परिषद् से कहता है—'अहो, कैसी रमणीय कौमुदी है...किस श्रमण या ब्राह्मण का सत्संग करें जो हमारे चित्त को प्रसन्न करे।' अमात्यों और पार्षदों ने एक-एक कर सभी तत्कालीन मताचार्यों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहा। पूर्ण काश्यप के अक्रियावाद से वेलट्ठिपुत्त के अनिश्चिततावाद तक की चर्चा हुई, पर उसे कोई पक्ष न रुचा। अवश्य ही वह इन सभी वादों से परिचित रहा होगा, इसकी पुष्टि भी उसी सूत्र से होती है। जीवक (कौमारभृत्य) के श्रमण गौतम की ओर संकेत करने पर वह बुद्ध के दर्शन को गया और उनसे सभी मताचार्यों[२५] के वाद बताए।[२६] दीघनिकाय का महापरिनिर्वाण सूत्र धर्मों के प्रति कुणीक के सद्भाव के प्रमाण में एक और कड़ी जोड़ते हुए सूचित करता है कि बुद्ध के निर्वाण के बाद उनकी पवित्र धातु (अस्थियों) ले जाकर उसने सत्कारपूर्वक उनपर स्तूप निर्माण किया। अट्ठकथा तो उसका पूरा विवरण देते हुए यह भी बताती है कि कितने सत्कारपूर्वक अस्थियाँ कुशीनगर (कुसीनारा, वर्तमान कसया) से राजगृह ले जाई गईं और उनपर स्तूप-निर्माण हुआ।[२७] किंतु इन सब कार्यों से उसकी लोकसंग्रहपरक धर्मचिकीर्षा की ही भावना सिद्ध होती है। उसका त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, संघ) के प्रति सम्यक् आत्मसमर्पण का भाव तत्कालीन साहित्य में प्राप्त नहीं। बुद्ध-मुख से श्रामण्यफलसूत्र का उपदेश पाने पर भी बौद्ध श्रमणवाद मे

२२—विनय, ४८०

२३—वही, ४८२

२४—दीघ श्रामण्यफलसूत्र।

२५—दिव्यावदान, १२।१४।१४४

२६—दीघ, पृ० १६

२७—वही, पृ० १५१, पा० टि०।

उसकी आस्था नहीं हुई। वस्तुतः कुणीक की आन्वीक्षिकी सिद्धियों पर बौद्ध धर्म भी खरा न उतरा।[२८]

अस्तु। ऊपर दिए विश्लेषणों से स्पष्ट होता है, और आगे और भी स्पष्ट होगा कि मातृपक्षीय लिच्छवि रक्तवाले कुणीक की त्रिरत्न के प्रति विशिष्ट आस्था नहीं थी। फिर भी उसने नीति की दृष्टि से यथावसर बुद्ध और उनके संघ का सत्कार किया और आवश्यकतानुसार बुद्धद्रोही देवदत्त को भी प्रश्रय दिया। बौद्ध पिता से राज्य लेने के समय उसने देवदत्त की ओर विशेष अभिरुचि दिखाई और उस समय उसने मातृकुल के ज्ञातृविशिष्ट वैशालिक अभिमत, मगध की अबौद्ध जनता[२९] तथा बुद्धद्रोही देवदत्त और उसके समुदाय (वह ५०० भिक्षुओं को लेकर संघ से अलग हुआ था) को अपनी ओर संग्रथित कर एक महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न किया। बुद्ध-द्रोही देवदत्त से कुणीक की अभिसंधि, कुणीक द्वारा उसके सम्मान[३०] और देवदत्त द्वारा संघ-भेद[३१] किंवा बुद्ध-देवदत्त मतभेद के कारणों को सम्मुख रखने पर ऐसी ध्वनि निकलती है कि कुणीक ने देवदत्त की सहायता से एक बार ऐसा प्रयत्न भी

२८—वह जब बुद्ध के पास से चला आया तो बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा कि इस राजा के संस्कार अच्छे न थे, अन्यथा उसे यहीं धर्म-चक्षु उत्पन्न हो जाता। परंतु यह उनके कथन और विचार का अपना ढग मात्र था। उनके महापुरुषोचित चरित्र में त्याग और निर्लिप्ति के साथ एकराट् चक्रवर्तित्व और अपनेषन की भावना का अद्भुत मिश्रण मिलता है जो भारत के किसी अन्य महापुरुष में दुर्लभ है। निर्वाण के पूर्व आनद पूछते हैं—"भंते तथागत के शरीर को हम कैसे करेंगे?" (अंत्येष्टि आदि)। तब बुद्ध उत्तर देते हैं—"जैसे आनद, राजा चक्रवर्ती के साथ करना होता है" (दीघ० म० प० सु०)। कतिपय अन्य स्थलों पर भी उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति चक्रवर्ती के रूप में की है। ऐसे ही जब कोशल का नवीन राजा विरुद्धक (विडूडभ) शाक्यों से प्रतिशोध लेने उनकी सीमा पर पहुँचता है तो बुद्ध को शाक्य-सीमा में एक विरल छायावाले वृक्ष के नीचे बैठे देख कहता है—"भंते, इस गर्मी में इस विरल छायावाले वृक्ष के नीचे क्यों बैठे हैं? चलें, मेरी सीमा में उस घनी छायावाले वृक्ष के नीचे विहार करें" तब उसे उत्तर मिलता है—'ठीक है महाराज, ज्ञातृकों की छाया शीतल होती है।' (बु० च०, ४७६)

२९—विनय महावग्ग के चतुर्थ माणवार में मागध असंतोष दर्शित है। (वि० १००)

३०—विनय, ४८०

३१—वही, चु० व० संघभेद स्क०।

किया था जिससे एक ओर तो बौद्ध-संघ ज्ञातृपुत्रीयों (जैनों) की भाँति समाज से अदृष्ट रूप में अलग रहे और दूसरी ओर बौद्ध मध्यमार्ग पर नैर्ग्रंथिक अतिवाद का भी प्रभाव पड़े तथा बौद्ध धर्म को चैत्यपूजक अमांसभोजी व्रात्य विचारधारा के अधिकाधिक अनुकूल बनाया जा सके। संभव है, इसमें उसकी लिच्छवि माता का भी हाथ रहा हो। इसी लिये देवदत्त ने आग्रहपूर्वक बुद्ध से अनुरोध किया कि 'विनय' में संशोधन कर भिक्षुओं को आदेश दिया जाय कि वे आरण्यक, पिंडपातिक पांसुकूलिक, वृक्षमूलिक और अमांसभोजी रहें।[३२] पर बुद्ध ने इसे स्वीकार नहीं किया। इस प्रसंग में यह कह देना अनुचित न होगा कि बुद्ध ने गृह-त्याग के उपरांत छः वर्षों तक कृच्छ्र व्रतोंवाला कायक्लेशमय तप किया (मज्झिम निकाय, बोधि राजकुमार सुत्तंत), जो सांख्य विचारों से अनुप्राणित होते हुए अपने उत्तरकाल में जैनों के ध्यानमय उपवास किंवा मौन कायोत्सर्ग की परिपाटी पर चलने लगा था। अवश्य ही उन्होंने तत्कालीन अन्य दर्शनों की आध्यात्मिक साधना-प्रणालियों का भी यथारुचि परीक्षण-प्रयोग किया, परंतु प्रतीत होता है कि इन छः वर्षों के अंतिम दिनों में उन्होंने जैन-साधना भी की। आठवीं शती के जैन विद्वान् देवसेनाचार्य के दर्शनसार में आए उल्लेखानुसार वे सरयू-तट पर स्थित पलाशनगर में पिहिताश्रव के शिष्य होकर रहे थे और उनका उस समय का नाम बुद्धकीर्ति था।[33]

देवदत्त और कुणीक का प्रयत्न यह था कि बुद्ध को बोधिमार्ग वा मध्यममार्ग से हटाकर जैन तत्त्वों की ओर ले जाया जाय और क्रियात्मक रूप में बौद्ध संघ की संचालिनी शक्ति देवदत्त के हाथों में आ जाय; इस प्रकार उनकी उदीयमान प्रतिभा का दुरुपयोग कर कार्य सिद्ध किया जाय। देवदत्त ने एक स्थल पर कुणीक से कहा भी कि तुम बिंबिसार को मारकर राजा बनो और मैं बुद्ध को मारकर संघ का शास्ता बनूँ।[३४] इधर गौतम बुद्ध ने अपने युग की आवश्यकता को ठीक ठीक पहचान लिया था। उनकी क्रांतदर्शिनी मेधा ने भली भाँति समझ लिया था कि निर्ग्रंथ नग्न-

---

३२—विनय ४८८।

३३—सिरि पायासणाह तित्थे सरयूतीरे पलासणयरथो पिहियसवस्स सिस्सो महासुदो बुड्ढकित्ति मुणी। बहुत संभव है कि जैनधर्म के महत्त्व-द्योतन के लिये ऐसा लिखा गया हो। किंतु इतना अवश्य है कि बुद्ध ने जैनधर्म का विधिवत् अंगीकार भले ही न किया हो, पर उनकी क्रियाओं का प्रयोग तो अवश्य किया, जैसा बो० रा० सु० से प्रकट है।

३४—विनय, ४८१

लुंचनवादी जैन यति प्रजा से अलग होते जा रहे हैं तथा कायक्लेश की अद्भुत भूमिका में रहते हुए वे केवल आश्चर्य की दृष्टि से देखे जा रहे हैं; उनका अतिवाद उन्हीं का उच्छेद कर रहा है। ब्राह्मणों के हिंसामय-यज्ञों की भाँति उनका कायक्लेश-मय चातुर्याम संवर भी लोकहृदय पर अधिकार पाने में असमर्थ है। उस समय वस्तुतः किसी बीच के ऋजु मार्ग की माँग थी जो मज्झिमा प्रतिपदा के आलोक में ही दिखाई पड़ता था। बुद्ध ने संबोधि के बाद ही ऋषिपत्तन मृगदाव (सारनाथ, बनारस) में पंचवर्गीय भिक्षुओं के संमुख दिए अपने प्रथम उपदेश में कहा—'भिक्षुओ, इन दो अंतों (अतियों) का प्रव्रजितों को सेवन नहीं करना चाहिए—अनार्य अनर्थों से युक्त काम-भोग करना तथा कायक्लेश में लगना। भिक्षुओ, तथागत ने इन दोनों के बीच का मध्यमार्ग आविष्कृत किया है जो चक्षुप्रद, ज्ञानप्रद, उपशमनार्थ, अभिज्ञार्थ, संबोध्यर्थ निर्वाण के लिये है' (संयुत्त निकाय)। और वहीं उन्होंने उन भिक्षुओं को दीक्षित कर (तथा गृहपति यश को भी) उद्घोषित करते हुए कि 'मैं सभी दिव्य और मानुष पाशों से मुक्त हूँ', आदेश दिया--

चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकंपाय अत्थाय सुखाय देव मनुस्सानं···आदिकल्याणं मज्झकल्याण परियोसानकल्याणं···केवल परिपुन्नं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ।

बुद्ध लोकानुकंपाय, जीवों के सुख-हित के लिये, अपने पर्यवदात ब्रह्मचर्य वाले मध्यमार्ग के प्रतिष्ठार्थ किंवा व्यवहारार्थ वा प्रकाशनार्थ, लोक से न बहुत निकट न बहुत दूर, "आत्मदीप आत्मशरण" किंतु संवेदनशील होते हुए घुले-मिले रहना चाहते थे। इसलिये उन्होंने अतिवादविहीन मध्य मार्ग का आविष्कार किया, जिसकी सार्थकता को लोक आग्रहपूर्वक स्वीकार कर रहा था और जिसके द्वारा हिंसामय यज्ञवाद तथा पीड़ामय नग्नलुंचनवाद—परक्लेश और आत्मक्लेश के प्रतीक इन दोनों अतियों से प्रताड़ित प्राणियों की भावना का आदर हो सका। ऐसी अवस्था में वे देवदत्त के उस आग्रह (दुराग्रह) को कैसे स्वीकार कर सकते थे जो अतिवाद की प्रेरणा देता था?[३५] यदि वे उसकी उपर्युल्लिखित पाँच माँगों

३५—आगे चलकर देखा जाता है कि समान रूप से विरोधी परवर्ती ब्राह्मण भी निर्ग्रंथों के प्रति ही अधिक असंतुष्ट थे। 'न गच्छेत जैनमंदिरम्' तक कह डाला, सो भी साधारण स्थिति की तो बात ही क्या, 'हस्तिना ताड्यमानेऽपि'। फिर बौद्ध क्यों लुप्त हो गए और जैन

को स्वीकार कर लेते तो उसका मात्र फल यही होता कि बौद्ध मध्यमार्ग और जैन अतिवाद में नाममात्र का भेद रह जाता और बौद्ध समाज के अंग न होकर दूरस्थ आश्चर्य की वस्तु रह जाते। उनका अलौकिक जीवन जिज्ञासापूर्ण कुतूहल बनकर स्वाभाविक समवेदना खो देता।

बुद्ध ने अपना रक्त बहाकर[36] भी देवदत्त के कुचक्रों के सामने आत्मसमर्पण नहीं किया। उसकी सारी चेष्टाएँ व्यर्थ हुईं। फिर भी, जैसा विनय के संघभेद स्कंधक में दर्शित है, वह संघ-भेद में कुछ अंशों तक सफल रहा। यहाँ भी वही लिच्छवि समुदाय जिसपर पूर्वकालिक ज्ञातृपुत्रीय प्रभाव था, कलह में पहले प्रवृत्त हुआ, और यहीं से उन "वज्जीपुत्तकों" (वैशालिक भिक्षुओं, लिच्छवि प्रव्रजितों) के उस वर्ग की स्थापना हुई जिसकी परंपरा ने आगे चलकर बौद्ध धर्म में वाद-विभेद को प्रोत्साहन दिया तथा अपनी सुविधा के अनुकूल यानों का निर्माण किया। अट्ठकथा बिलकुल ठीक कहती है कि श्रमण धर्म मे जो भी उपद्रव हुए, वज्जीपुत्तकों (वैशालिक भिक्षुओं) को लेकर हुए। बुद्ध के जीवन-काल[37] में और बाद मे भी[38] रह-रहकर बौद्ध धर्म में दीक्षित लिच्छवि समुदाय विद्रोह कर उठता था। बुद्ध-निर्वाण के सौ वर्ष बाद तो वैशालिक भिक्षुओं ने अपने धर्म का नितांत अपलापन कर दिया था, जिससे क्षुब्ध होकर संघ को वैशाली मे द्वितीय संगीति करनी पड़ी

बने रहे ? इसका उत्तर यह है कि बौद्धों के वज्रयानी भ्रष्टाचार (जो उन्हें बुद्धवर्जित अतिवाद की ओर ले गया) तथा विदेशी तत्त्वों के प्रति उनकी आस्था ने उन्हें लोकदृष्टि में इतना गिरा दिया कि उनका उच्छेद समय की एक आवश्यकता सिद्ध हुआ। हाँ, भौतिक रूप में उनका नाश पाँचवीं शताब्दी के उन हूणों तथा हूण बर्बरता के उन उत्तराधिकारियों ने किया जिनका स्मरण आज मानवता के नृशस हतकों के रूप में किया जाता है, न कि कुमारिल या शकराचार्य जैसी भावितात्माओं ने वा किसी सुधन्वा ने। यही क्यों, सबके साथ समन्वय कर विद्रोही तत्त्वों को भी क्षमा करनेवाले ब्राह्मणों ने तो बुद्ध को अवतार मानकर उस अत्यत विरोधी, किंतु महान्, आत्मा के प्रति आदर का भाव दिखाया। हाँ, उन्हें अवतार मानने का श्रेय ब्राह्मण धर्म की महानता, बुद्ध की क्रांतदर्शिनी मेधा और मध्य काल में पुनः ब्राह्मण धर्म अपनानेवाले उन बौद्धों को जो बुद्धोपासना का मोह न छोड़ सके थे, समान रूप से प्राप्त है।

३६—विनय, ४८५ ३७—वही, ४८० ३८—बु० च०, ५५६

और सिंगिलोनकप्प आदि अवैध क्रियाओं को फिर से अग्राह्य बताते हुए धर्म और संघ का परिशोधन करना पड़ा।

जैसा पहले कहा जा चुका है, बौद्ध पिता से राज्य लेने के समय कुणीक ने देवदत्त, लिच्छवि अभिमत और अबौद्ध मागधों को अपनी ओर मिलाया, किंतु जब लिच्छवि राज्य लेने का समय आया तब उसने बुद्ध-सत्कार से अपना पक्ष प्रबल बनाया। जैसा महापरिनिर्वाण सूत्र से स्पष्ट है, उसने अपने अमात्य और महामात्य सुनीध और वर्षकार को बुद्ध के पास भेजकर लिच्छवियों के पराभव के उपाय[३९] पुछवाए। उस समय तक बौद्ध धर्म के व्यापक प्रभाव तथा प्रजा में उसके प्रति आदर की भावना कुणीक की दृष्टि में बौद्ध धर्म की अनिवार्यता स्पष्ट कर चुकी थी। तब क्यों न इसे वह लोकसंग्रह के एक अच्छे उपाय के रूप में ग्रहण करता ? कूटनीति के अच्छे पंडित की भाँति वह अधिकाधिक लोक-संपर्क में रहकर प्रजापक्ष दृढ़ रखना चाहता था, जिसमे वह सफल रहा। इतिहास सिद्ध करता है कि उसने एक ऐसे साम्राज्य मगध की नींव दृढ़ की, एक ऐसे नगरक पाटलिग्राम को राजनीति का केंद्र बनाना प्रारंभ किया जो अनेक शताब्दियों, अनेक वंशांतरों की आँधी झेलकर भी सर्वोच्च शक्ति-केंद्र बना रहा। कुणीक के समय ही मगध का राज्य पूर्व में अंग, उत्तर मे वज्जी और पश्चिम मे काशी, यही क्यों, वरन् श्री जायसवाल प्रभृति विद्वानों के प्रौढ़-मतानुसार मथुरा तक विस्तृत था। श्री जायसवाल इसके प्रमाणस्वरूप परखम मूर्ति (ल्यूडर्स सूची, सं० १४०) का लेख[४०] उपस्थित करते है और उस मूर्ति को वे अजातशत्रु कुणीक की प्रतिमा मानते हैं जिसका साम्राज्य मथुरा तक था।

३९—दीघ ११७

४०—परखम प्रतिमा को कनिंघम यक्ष प्रतिमा मानते थे। श्री जायसवाल ने उसपर टंकित लेख का पाठ-शोध करते हुए उसे अजातशत्रु कुणीक की प्रतिमा सिद्ध किया। बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी की पत्रिका (खंड ५ सन् १९१९, पृष्ठ ५५०) में उन्होंने प्रारंभिक विश्लेषण के साथ उक्त लेख "निभद प्रशेनि अज (া) सत्तु राजो (सि) (रि) र कुणीक शेवासिनागो माग (धा) नं राजा" दिया है। स्टेनकोनो (इ० ऐंटि०, १९०९, पृ० १४७), रामप्रसाद चंदा (इ० ऐंटि० १९१९ पृ० २१-३२), ओ० सी० गांगुली (माडर्न रिव्यू १९१९) और वोगल (कैटेलाग ऑव मथुरा म्यु०, पृ० ८३) के भी उक्त प्रतिमा विषयक शोध प्रकाश में आए, जिनका समुचित उत्तर श्री जायसवाल ने बि० उ० रि० सो० पत्रिका

अजातशत्रु के उपर्युक्त साम्राज्य-निर्माण के कार्य का महत्त्व स्पष्ट रूप से समझने के लिये मगध को पड़ोसी राज्यों के साथ भारत के तत्कालीन अन्य राज्यों की भूमिका में देखना आवश्यक है। वह समय सोलह महाजनपदों का युग कहा

(खंड ६ भाग २, पृ० १७३-२०४, सन् १६२०) में दिया। इससे उनकी स्थापना निश्चय ही प्रौढ सिद्ध हुई। म० म० डाक्टर गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने नागरीप्रचारिणी पत्रिका में और म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने बि० उ० रि० पत्रिका (जिल्द ५ भाग ४, पृ० ५५२-६३) में उनकी स्थापना का विस्तारपूर्वक समर्थन किया। स्टेनकोनो प्रभृति विद्वानों को मूल भ्रम कनिंघम के उक्त प्रतिमा को यक्ष प्रतिमा कहने से हुआ। कनिंघम ने उसे देव-पूजा की प्रतिमा के रूप में इंगुर-सिंदूर लगी हुई पाया और ग्रामीण जनश्रुति के आधार पर तथा पूर्वनिर्धारित मतों से प्रभावित होकर यह मान लिया। न तो टंकित लेख का शोध किया, न उसके ऐतिहासिक महत्त्व की ओर गए। आधारवेदी के अगले भाग का लेख भी उनकी दृष्टि में नहीं आया। उनके सामने तो उस समय की यही प्रबल धारणा थी कि भारत में यवन आक्रामकों के साथ ही मूर्तिकला का प्रवेश हुआ। किंतु यह मत भ्रमपूर्ण था, क्योंकि ऋग्वेद के साखायन ब्राह्मण में प्रतिमाओं का उल्लेख है (यदिडामुपह्वयते यन्मार्जते पाणी प्रतिच्छेद तस्मै हिरण्मयौ प्रतिदधुस्तस्माद्धिरण्यपाणिरिति) तथा उसी ब्राह्मण में रात्रि कालदेव की प्रतिमाओं का भी उल्लेख है। और भी, शुंगकाल में खारवेल अपनी प्रशस्ति (कुमारीपर्वत अर्थात् खडगिरि उदयगिरि, उड़ीसा, ई० पू० १७५) में कलिंग की उस जिनमूर्ति का उल्लेख करता है (ना० प्र० पत्रिका भाग ८, पृ० ३१६) जिसे नंद ४५८ ई० पू० पाटलिपुत्र ले गया। महावीर-निर्वाण के कुछ दशकों बाद ही भारतीय प्रतिमाओं का यह भौतिक प्रमाण तथा परखम मूर्ति का प्रौढ़ कलापूर्ण वस्त्र-विन्यास आदि सूचित करता है कि भारत में यह कला उस समय (बुद्ध-काल में) उन्नत थी। अवश्य ही उसे प्रौढ़ होने मे कम समय न लगा होगा और वह प्रतीकोपासना के साथ साथ चली होगी, जब कि अन्य बहुत सी सभ्यताएँ भविष्य के गर्भ मे रही होंगी, यह नहीं कि उसका आयात विदेशी आक्रामकों द्वारा हुआ। युवानच्वाग तो शाक्यों में प्रचलित ईश्वरदेव की प्रतिमा की उपासना का भी विवरण देता है (वाटर्स ऑन युवान-च्वांग, जिल्द २ पृ० १३)। अस्तु, पाश्चात्य विद्वान् कनिंघम को उक्त मान्यता से प्रभावित होकर अपने भ्रामक मतों की पुष्टि का प्रयास करते थे और पाश्चात्य स्थापनाओं पर अपने सिद्धांतों को जीवित रखनेवाले आधुनिक विद्वान् भी (सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृ० ६५) अब तक उस भ्रम का आदर करते हैं। पर यह अयुक्त है और परखम प्रतिमा कुणीक की है जिसने मथुरा तक का प्रदेश अपने साम्राज्य में मिलाया था।

जाता है (जंबूद्वीपे षोडश जनपदेषु[४१]...), जब सांस्कृतिक इकाई एक होने पर भी जंबूद्वीप शासन के कई क्षेत्रों मे विभक्त होकर विभिन्न प्रकार के तंत्रों द्वारा शासित था। ये इस प्रकार थे—अंग, मगध, काशी, कोशल, कुरु, पांचाल, वृजि, मल्ल, चेदि, वत्स अश्मक, अवंति, मत्स्य, शूरसेन, गांधार और कांबोज। इन सोलह महाजनपदों को छोड़ कुछ अन्य शासनक्षेत्र भी थे जो स्थानीय जातियों द्वारा शासित होते थे. यथा पश्चिम मे शिवि, सौवीर, मद्र, यौधेय, कुकुर तथा उत्तर में बुलिय, कालाम, कोलिय, मोरिय, शाक्य। उक्त सोलह जनपदों सहित इन सभी राज्यों में गणाधीन, राजाधीन, सचिवायत्त, उभयायत्त, वैराज्य, भोज्य आदि नाना प्रकार के तंत्र गतिशील रहे। जान पड़ता है जंबूद्वीप (भारत) उस समय अनेक प्रकार के तंत्रों का प्रयोग कर अपने सर्वाधिक अनुकूल शासनतंत्र की खोज में था। इन विविध प्रकार के तंत्रों मे राजतंत्र और गणतंत्र[४२] ही ऋद्ध थे। कोशल और मगध के राजतंत्रों से वैशाली का गणतंत्र किसी भी प्रकार न्यून न था, अपितु किन्हीं गुणों में श्रेष्ठ भी था। किंतु राजतंत्रों की शक्ति और अपने अंतर्द्वंद्वों[४३] तथा उत्तरदायित्वहीनता के कारण गणतंत्र क्षीणबल होते जा रहे थे और 'सकल जंबूदीपस्स एक रज्जम्' की भावना बलवती हो रही थी। कोशल शाक्य-ध्वंस की चेष्टा मे था और मगध वृजि (लिच्छवि विदेह) पर अपनी दृष्टि गड़ा रहा था। शाक्य और वृजि उस समय यश.प्राप्त गणतंत्र (राजशब्दोपजीवी) थे—शाक्य अपने इक्ष्वाकुवंशीय आभिजात्य तथा बुद्ध-गौरव के कारण, और वृजि अपनी सांस्कृतिक उन्नति एवं बल-वैभव के कारण। अस्तु, उपर्युक्त सूचियो मे उत्तरापथ के मध्यमंडल और पश्चिमी दक्षिणापथ में आठ गणतंत्र (अल्लकप्प के बुलिय, केसपुत्त के कालाम, रामगाम के कोलिय, पिप्पिलीवन के मोरिय, कपिलवस्तु के शाक्य, वैशाली के लिच्छवि, कुसीनारा के मल्ल तथा पावा के मल्ल) और चार राजतत्र (मगध, कोशल, वत्स, अवंति) थे। कौटिल्य द्वारा अर्थशास्त्र में दिए गणतंत्रों के दो भेद उस समय किंवा उससे पूर्व भी प्रचलित थे—'वार्ताशस्त्रोपजीवी' और 'राजशब्दोपजीवी' (कांबोजसुराष्ट्रक्षत्रिय श्रेण्यादयो वार्ताशस्त्रोपजीविनः लिच्छविक वृजिक मल्लक मद्रक कुकुर कुरुपांचालादयः

४१—ललित विस्तर (लैफमैन संपादित) पृ० २२

४२—केचिद्देशा गणाधीना केचिद्राजाधीना...अवदानशतक, जिल्द २ पृ० १०३ (एडवर्ड स्पेयर, पेट्रोग्राड)।

४३—एकैक एव मन्यते अहं राजा...। —ललितविस्तर, जिल्द १ पृ० २१

राजशब्दोपजीविनः—अर्थशास्त्र, संघवृत्तम्)। 'वार्ताशस्त्रोपजीविनः' के 'वार्ता' शब्द का स्पष्टीकरण अर्थशास्त्र में ही है—कृषि पशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता (१।४।१)। गणतंत्रों में केवल वृजि (लिच्छवि विदेह) ही ऐसा शक्तिमान् था जिससे उत्तरापथ के राजतंत्र भी स्पर्धा रखते थे। आर्थिक दृष्टि से समृद्ध, सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत और यौद्धिक दृष्टि से प्रबल वैशाली मगध और कोशल के सामने एक प्रश्न बनी थी। लिच्छवि संघटित होकर एक मत से शासन चलाते थे। उनके इस ऐक्य की प्रशंसा बुद्ध ने भी की थी।[४४] उनके शील और ऐश्वर्य की तुलना उन्होंने देवताओं से की थी।[४५]

लिच्छवियों की दुर्जेयता के प्रसंग में उनके प्राचीन इतिहास पर दृष्टि डालना उचित होगा। लिच्छवियों का वर्णन वैदिक साहित्य में नहीं पाया जाता। इतिहास की प्राप्त सामग्रियों में उनका उल्लेख जैन और बौद्ध ग्रंथों में ही सबसे पहले हुआ। इसके पूर्व विदेह का वर्णन अवश्य मिलता है, जिससे अलग होकर लिच्छवियों ने अपना बलशाली गणतंत्र बनाया। बृहद्विष्णुपुराण में विदेह की सीमा पूर्व में कौशिकी (कोसी), पश्चिम में उससे २४ योजन पश्चिम सदानीरा (गंडक), दक्षिण में गंगा और उत्तर में गंगातट से सोलह योजन दूर हिमालय की तलहटी थी (कौशिकी तु समारभ्य...मिथिला नाम नगरी तत्रास्ति लोकविश्रुता)। विष्णुपुराण द्वारा किए विदेह के सीमा-निर्धारण में वृजि प्रदेश अंतर्निहित हो गया है और उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं दर्शित है। तीर्थंकर महावीर विदेहवासी, विदेह राजकुमार, विदेहदत्ता के पुत्र, विदेह में तीस वर्ष रहे। मिथिला उनकी प्रिय नगरी थी जहाँ वे छः मास रहे।[४६] पहले स्पष्ट किया चुका है कि महावीर का मूल स्थान कोल्लाग था। अतः निश्चय ही कोल्लाग को विदेह प्रदेश में होना चाहिए। डा० हार्नली भी कहते हैं—कुंडपुर के आगे और उत्तरपूर्व में कोल्लाग स्थित था जहाँ के प्रधान निवासी संभवतः उस 'नाय' या 'ज्ञातृ' कुल के क्षत्रिय थे जिसमें महावीर हुए थे।[४७]

४४—दीघ ११८, ११६ ४५—वही, १२८

४६—जैकबी, जैनसूत्राज, जिल्द २२ भाग १, पृ० २५६, २६४

४७—Beyond Kundpur in a further north-easterly direction lay the suburb of Kollag, which appears to have been principally belonged by the Kshatriyas of Naya or Jnatris' clan to which Mahavir belonged.

—उवासगदसाओ, खंड २, पृष्ठ ४ पादटिप्पणी।

इस प्रकार देखा जाता है कि बुद्ध और महावीर के समय में भी कौशिकी से लेकर वैशाली के निकट पूर्व तक का प्रदेश विदेह कहा जाता था। अतः वैदिक साहित्य में लिच्छवियों की अप्राप्ति तथा बुद्धकाल मे भी विदेह की भौगोलिक व्याप्ति स्पष्ट करती है कि मूलतः सदानीरा से कौशिकी तक का प्रदेश विदेह था, जिसकी सदानीरा-तटवाली लिच्छवि शाखा विदेह राजतंत्र से पहले विद्रोह कर अलग हुई और विदेह बाद में, किंवा अर्थशास्त्र मे दिए करालजनक वा विष्णुपुराण के कृत के समय में, विद्रोह कर राजतंत्र से मुक्त हुए। अवश्य ही इस विद्रोह-प्रणाली को सदानीरा-तटवाले लिच्छवियों ने ही प्रारंभ किया, जिन्होने बाद में भी राजतंत्र न सहन कर गणतंत्र स्थापित किया।

शतपथ ब्राह्मण में कथा आई है कि विदेघमाथव (विदेहमाधव) ने अपने मुख मे अग्नि वैश्वानर का संवहन किया और उनके मुख से निष्पन्न अग्नि वैश्वानर सरस्वती के तट से सदानीरा के तट तक व्याप्त (पूर्व मे बढ़ते हुए) हुआ। विदेघमाथव तथा उनके पुरोहित गोतम राहूगण ने अग्नि वैश्वानर का अनुगमन किया। मार्ग में पड़ने वाली सब नदियाँ उस अग्नि से प्रभावित हुईं, किंतु सदानीरा दीप्त नहीं हुई। उसके तट पर रुककर विदेहमाधव ने पूछा—'मै कहाँ रहूँ ?' अग्नि ने उत्तर दिया—'सदानीरा के पूर्व' (एव ते प्राचीनं भुवनमिति)। प्राची (= पूर्व) में बहुधा ब्राह्मण सदानीरा का अतिक्रमण नहीं करते थे, क्योंकि वह अग्निवैश्वानर द्वारा अनास्वादित थी। अग्निवैश्वानर के उत्तर ने यह शंका मिटा दी और उन्होंने सदानीरा के तट पर वास स्थिर किया तथा सदानीरा कोसल विदेह की मर्यादा (= सीमा) हुई—

विदेघो ह माथवोऽग्निं वैश्वानरं मुखे बभार तस्य गोतमो राहूगण ऋषिः पुरोहित आस नेन्नमेऽग्निर्वैश्वानरो मुखान्निष्पद्याता इति। तर्हि विदेघोमाथव आस। सरस्वत्या स तत एव प्राङ् दहन्नभीयायेमा पृथिवीं तं गोतमश्च राहूगणो विदेघश्च माथवः पश्चाद्दहन्त मन्वीयतुः स इमाः सर्वा नदीरतिददाह सदानीरेत्युत्तराद् गिरेर्निर्द्धावति ता हैव नातिददाह ता ह स्म तां पुरा ब्राह्मणा न तरन्त्यनतिदग्धाऽग्निना वैश्वानरेणेति। स होवाच विदेघो माथवः क्वाह भवानीत्यत एव ते प्राचीनं भुवनमिति होवाच सैषाप्येतर्हि कोसलविदेहाना मर्यादा ते हि माथवाः। —शुक्ल यजु० मा० शतपथः १।४।१०,१४,१७

इससे भी स्पष्ट होता है कि विदेह की पश्चिमी सीमा सदानीरा (गंडक) थी और वृजि (लिच्छवियों) का उस समय अस्तित्व न था।[४८]

४८—जुलियस एगलिंग का तो यहाँ तक कहना है कि कोसल-विदेह भी एक थे (श० ब्रा० जिल्द १२, प्रस्तावना पृ० ६२,६३)। ऐसे स्पष्ट सकेत का वास्तविक और पुष्ट

अग्नि वैश्वानर के इस प्राच्य अभियान का ऐतिहासिक महत्त्व और सांकेतिक अर्थ है। इससे स्पष्ट होता है कि विदेहमाधव आर्यों के पूर्वी अभियान के नायक थे जिन्होंने सारस्वत प्रदेश से जाकर पूर्व मे कौशिकी तक के प्राच्य प्रदेश में आर्य संस्कृति के प्रतीक अग्नि वैश्वानर की प्रतिष्ठा कर आर्यों के प्राच्य विस्तार की नींव डाली थी। परवर्ती काल मे भी वहाँ यज्ञवाद प्रबल रहा। उदाहरण के लिये ऐक्ष्वाक निमि के सहस्रवर्षीय सत्र (वि० पु० ४।५।१) और जनक द्वारा किए बहुदक्षिण यज्ञ (बृहदारण्यक ३।८) जैसे महामखों को रखा जा सकता है। जातकों में भी विदेहराजों के यज्ञ-यजन का उल्लेख है। लिच्छवि, जो व्रात्य थे[४९], कब और कैसे अपनी व्रात्य विचारधारा लेकर रंगमंच पर प्रकट हुए, यह एक रहस्य है। अस्तु। उपर्युक्त अभियान के अग्रदूत विदेहमाधव की ऐतिहासिक स्मृति को स्थिर रखने के लिये सदानीरा और कौशिकी के बीच का प्रांत विदेह कहा गया, जिसमें रहने-बसने की सांकेतिक अनुज्ञा अग्निवैश्वानर ने दी थी। इसी विदेह की राजधानी मिथिला में जनकों की परंपरा स्थापित हुई जो दीर्घकाल तक चलकर बुद्ध के पहले ही समाप्त हो गई।

ऊपर कहा जा चुका है कि व्रात्य लिच्छवियों का ब्राह्मण ग्रंथों में अस्तित्व नहीं है और वे विदेहों से ही फूटकर निकले। मनु लिच्छवियों को व्रात्य शाखा में रखते हैं और व्रात्य की परिभाषा में कहते है—'द्विजों की समानवर्णा स्त्रियों मे उत्पन्न संतान जो संस्करणविहीन रहती है व्रात्य कही जाती है।'[५०] म० म० हरप्रसाद शास्त्री

आधार प्राप्त नहीं। शतपथ के 'सैषाप्येतर्हि' को देखकर उन्होंने अनुमान लगाया कि कोसल-विदेह की सीमा-रेखा उस समय बँधी जब शतपथ ब्राह्मण का प्रणयन हुआ और इस भाँति उन्होंने मान लिया कि इसके पूर्व कोसल विदेह एक मे थे। इसे मानने मे असुविधा है। शतपथ में ही वहीं पर आए 'ता पुरा ब्राह्मणा न तरन्त्यनतिदग्धाग्निना' से स्पष्ट है कि शतपथ जिस घटना का उल्लेख करता है उसके पहले सदानीरा के पूर्व में आर्यों का विशेष आवागमन न था, न कोई आर्य राज्य था। ऐसी स्थिति मे एक होने का प्रश्न असंगत है। हाँ, जब सदानीरा के पूर्व आर्य अभियान हुआ तो विदेह प्रदेश की स्थापना के साथ ही सदानीरा कोसल-विदेह की सीमा-नदी मान ली गई। यह भी ध्यान देने योग्य है कि शतपथ का इस घटना का उल्लेख अति प्राचीन काल की ओर संकेत करता है जब आर्य-विस्तार पूर्व मे गतिशील हो रहा था, न कि उस समय की ओर जब शतपथ का प्रणयन हुआ था।

४९—बुहलर : लॉज ऑव मनु, ४०६। ५०—वही, ४०५-६

की व्रात्य की परिभाषा है कि वे अंतर्देश के चातुर्दिक रहनेवाले वैदिक परिधि के बाहर के आर्य थे। उनका कोई निश्चित आवास न था। वे झुंडों में घूमते और ब्राह्मण संस्कृति से विरत रहते थे तथा वैदिक आर्यों से युद्ध भी करते थे; किंतु आर्यों की सभी सुविधाओं के द्वार उनके लिये उन्मुक्त थे। उनके यज्ञ-याग करने, ब्राह्मणों के उनके द्वारा प्रस्तुत भोजन करने, यहाँ तक कि उनके मंत्रदर्शन करने और ब्राह्मण ग्रंथों की रचना करने पर भी कोई प्रतिबंध न था।'[51] ये दोनों ही विश्लेषण समान रूप से यह स्थापना करते है कि व्रात्य वैदिक संस्कारों में रुचि नहीं रखते थे। म० म० हरप्रसाद शास्त्री का यह कहना कि उनमें आर्य-संस्कृति की कमी थी, और मनु का यह कहना कि वे संस्करणविहीन है, समान अर्थ रखते हैं। मनु ही नहीं बौधायन, गौतम, वशिष्ठ, आपस्तंब—उनके पूर्ववर्ती स्मृतिकार भी यही ध्वनि देते है। अवश्य ही लिच्छवियों की व्रात्य विचारधारा ने जैन धर्म का प्रजनन किया जो अथ से इति तक वैदिक संस्कृति के प्रतिकूल है।

बौद्ध और जैन ग्रंथ लिच्छवियों को समान रूप से क्षत्रिय मानते हैं। महापरिनिर्वाण सूत्र के अनुसार धातु-विभाजन के समय लिच्छवियों ने कहा— 'भगवापि खत्तियो अह्माकम्पि खत्तियो'। भगवान् (बुद्ध) भी क्षत्रिय थे, हम (लिच्छवि) भी क्षत्रिय है, अतः हमारा भी चिता-भस्म मे भाग होता है। महावीर की माता लिच्छवि राजा चेटक की भगिनी त्रिशला क्षत्रियाणी थी। शबरस्वामी पूर्वमीमांसा की टीका मे 'राजा' शब्द को ही क्षत्रिय का पर्याय मानते है। अवश्य ही ७७०७ राजाओ वाली वैशाली क्षत्रियबहुला रही। इसका समर्थन यह बौद्ध आख्यायिका[52] भी करती है—पूर्वकाल मे काशिराज की अग्रमहिषी से एक मांस-पिंड प्रसूत हुआ जिसे पात्र मे रख गंगा को समर्पित कर दिया गया। एक मुनि ने उसे निकालकर (पाटलिग्राम के निकट ?) अपने आश्रम में रखा, जहाँ तीन पक्ष बीतने पर उस मांस-पिड ने कुमार-कुमारी की दो आकृतियाँ धारण कर लीं और विभक्त होकर एक बालक और एक बालिका हुई। दोनों का शरीर इतना पारदर्शी था कि किया हुआ भोजन भी उसमे से दिखाई देता था। अपने इस गुण के कारण वे 'निच्छवि' अर्थात् त्वचाविहीन कहे जाने लगे। कुछ उन्हें अंतर्लीन त्वचावाले मानकर 'लीनच्छवि' कहते थे, उसीसे 'लिच्छवि' हुआ। सिहली बौद्ध रचना

५१—जे० ए० बी० एस० एनुअल ऐड्रेस, न्यू सीरीज, जिल्द १७ सं० २, १९२१

५२—खुद्दक पाठ की टीका परमार्थज्योतिका।

'पूजावलीय' भी कुछ इसी प्रकार का विवरण देती है। आगे चलकर परमार्थज्योतिका कहती है कि उक्त कुमार-कुमारी का विवाह हुआ और उनसे सोलह बार पुत्र-पुत्रियों की यमक संततियाँ हुईं। इस प्रकार लिच्छवि कुल बढ़ने लगा। लिच्छवि-पर्याय 'वज्जी' के विषय में परमार्थज्योतिका कहती है कि वे मांस-पिंड से उद्भूत कुमार-कुमारी अन्य समवयस्क बालकों को पीड़ित करते थे, इसलिये लोग उन्हें वर्जितव्य कहते-समझते थे; और उसी 'वर्जितव्य' से 'वज्जी' की उत्पत्ति हुई। इन अनुश्रुतियों का, यद्यपि ऐतिहासिक महत्त्व विवादग्रस्त है, पर यह 'वर्जितव्य' शब्द कुछ सत्य की ओर संकेत करता है जिसका विवेचन आगे होगा।

ऐसा लगता है कि लिच्छवि व्रात्य होने के कारण विशिष्ट आर्यों द्वारा वर्जितव्य थे और उन्हीं अंतर्देशीय विशिष्ट आर्यों ने परवर्ती काल में उन्हें यह उपनाम दिया जो पाली मे 'वज्जी' के रूप मे आया है। अतः ऊपर कहा जा चुका है कि व्रात्यों को सभी आर्य अधिकार प्राप्त थे और उनके आनुवंशिक तथा रक्तीय अभिजात्य के प्रति कोई शंका न थी—वे केवल संस्करणविहीनता के दोषी थे। अत: संभव है यह 'वर्जितव्य' विचिकित्स्य लगे; पर उसका निराकरण 'वर्जितव्य' और 'वर्ज्य' का अर्थ-भेद किंवा भाव-भेद कर देगा और 'वर्जितव्य' शब्द में निहित उपेक्षा की भावना की मात्रा भी स्पष्ट हो जायगी। लिच्छवि व्रात्य विशिष्ट आर्यों के ऐसे समरक्त भाई थे जो वैदिक आचारों के प्रति निष्ठावान् न रहने के कारण उपेक्षणीय होते हुए भी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दाय के, अपने उन आचारनिष्ठ भाइयो (अंतर्देशीय आर्यों) की भाँति ही अधिकारी बने रहे जिन्होने बराबर उनका दाय स्वीकार किया। निश्चय ही उनका दाय छीना नहीं गया। वे 'वर्जितव्य' भले ही रहे हों, पर 'वर्ज्य' नहीं हुए। उनका सावित्री-पतित होना भी उनके किसी अधिकार को कीलित न कर सका। विदेहराज निमि द्वारा होतृकर्म के लिये वसिष्ठ का वरण,[५३] मौद्गलयायन द्वारा लिच्छवियो को 'वासेट्ठ' (वासिष्ठ) संबोधन तथा महावस्तु के कतिपय स्थलों पर लिच्छवियो-का 'वासिष्ठ' कहा जाना[५४] निश्चित करता है कि वे वशिष्ठगोत्रीय थे। सूर्यवंशीय ऐक्ष्वाकों के पुरोहित वशिष्ठ परंपरावाले ब्राह्मण हुआ करते थे। ऐतरेय ब्राह्मण का निर्देश है कि क्षत्रिय का गोत्र-प्रवर उसके पुरोहित के गोत्र-प्रवर से होता है।[५५] वाल्मीकीय रामायण के बालकांड[५६] में वैशाली की

५३—वि० पु० ४।५।१। ५४—'लाइफ ऑव बुद्ध' (तिब्बती दुलवा) के आधार पर।
५५—७।३४।२५ ५६—४७।१२

उत्पत्ति के प्रसंग में कहा गया है कि इक्ष्वाकुवंशी विशाल ने वैशाली की स्थापना की। राकहिल के 'लाइफ ऑव बुद्ध'[५७] से ज्ञात होता है कि शाक्य जो इक्ष्वाकु को अपना पूर्वपुरुष मानते थे, तीन भागों में विभक्त थे—शाक्य, लिच्छवि और पर्वतीय। प्रथम तिब्बती शासक शाक्य था। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट होता है कि लिच्छवि इक्ष्वाकुवंशी थे और उन्होंने व्रात्य-भाव ग्रहण कर लिया था। वैशाली भी उसी प्रकार इक्ष्वाकुवंशियो की नगरी थी, जिस प्रकार मिथिला (वर्तमान जनकपुर)। जनक-परंपरा का अंत होने पर मिथिला जो याज्ञवल्क्य के काल में संपूर्ण जंबूद्वीप के आध्यात्मिक केंद्रस्वरूप प्रतिष्ठित थी, निष्प्रभ हो गई। वैशाली और उसके उपकंठों के सन्निवेश राजनीतिक महत्त्व के साथ दार्शनिक श्रैष्ठ्य भी ग्रहण करने लगे। जहाँ ब्रह्मवादी जनकों के युग मे महामखोंवाली मिथिला आर्य दर्शन की मीमांसिका बनकर कुरु-पांचाल के विद्वानों को मूक करती हुई तत्कालीन भारतीय अध्यात्म की सम्राज्ञी बनी हुई थी, वहाँ उसी सदानीरा और कौशिकी के मध्यदेश में चैत्यपूजक लिच्छवि व्रात्यो की नगरी वैशाली अब वैभव और बुद्धि मे उसका स्थान ग्रहण कर रही थी और वहाँ जैन तथा बौद्ध धाराएँ टकरा-टकरा कर वैदिक मर्यादा के कूलों का ध्वंस कर रही थीं।

लिच्छवियों की वैशाली जिस प्रकार विदेह की प्रथम राजनीतिक विद्रोहिणी हुई उसी प्रकार उसने सांस्कृतिक विप्लव भी किए। मिथिला की शक्ति के प्रति विद्रोह कर विदेह के पश्चिमी भाग सदानीरातट वाले लिच्छवि विदेह-शक्ति से पहले अलग हुए और उन्हीं की व्रात्य विचारधारा ने पहले जैनो की अवैदिक मान्यताओं को प्रश्रय दिया, फिर बाद में बौद्धों की भी। मिथिला तो अनुगामिनी बनी हुई थी। व्रात्य लिच्छवियों ने वैशाली की सीमा भी चैत्यों से बाँधी थी; भीतर कितने चैत्य रहे होंगे, इसका अनुमान कठिन है। बौद्ध और जैन ग्रंथों में वहाँ के कतिपय चैत्यों का उल्लेख मिलता है। दीघनिकाय के पथिकसुत्त में अचेल कोरमट्टक प्रतिज्ञा करता है—'मैं वैशाली के पूर्व में उदयन चैत्य, दक्षिण मे गोतमक चैत्य, पश्चिम में सप्ताम्रक चैत्य और उत्तर में बहुपुत्रक चैत्य के आगे न जाऊँगा।' अवश्य ही ये उस नगर के सीमासूचक चैत्य थे। और भी चैत्य जैसे कपिनाह्य, मरकटह्रदतीर, चापाल, सारंदद आदि वहाँ थे। ये चैत्य केवल वास्तु द्वारा निर्मित न होकर कभी कभी वृक्षों के रूप में भी हुआ करते थे।[५८] बहुधा यक्षों किंवा अमनुष्यों के प्रीत्यर्थ इनकी उपासना

५७—उक्त ग्रंथ में सेनागसेटसेन के 'हिस्ट्री आव ईस्टर्न मंगोल्स' का उद्धरण।
५८—रिज़ डैविड्स : डायलॉग्ज़ ऑव बुद्ध, पृ० ११० पा० टि०।

होती थी।[५९] इस व्रात्य विचारधारा वाले सभी क्षेत्र जैन धर्म के लिये उर्वर सिद्ध हुए। सौराष्ट्र, नीलगिरि, वज्जी आदि इसके उदाहरण है, जो प्राचीन काल में अंतर्देश के प्रत्यंत और उपकंठ माने जाते थे।

वैशाली मे रहनेवाले लिच्छवि राजा मणि-हिरण्य में अन्य जनपद-निवासी उच्च कुलों से समृद्ध थे। उनके बल-वैभव से ही उनका राजशब्दोपजीवी गणतंत्र भौतिक ऋद्धि की पराकाष्ठा को प्राप्त था। तत्कालीन साहित्य में शाक्यों की भाँति कहीं कहीं वज्जियों के लिये भी चंड, कठोर आदि शब्द आए हैं और उन्हें असहिष्णु दिखाया गया है।[६०] पर उनकी शासन-प्रणाली अद्भुत थी। विश्व के इतिहास में शक्ति के विकेंद्रीकरण और साथ-साथ अभिन्न संघटन का वह अनूठा उदाहरण है। उनके शासन में जिस प्रकार प्रतिनिधित्व था उसी प्रकार न्याय में भी वृजि संघ की सभी ज्ञातियों का प्रतिनिधित्व होता था। अष्टकुलकों का संघटन इसका साक्षी है। जनपद में निवास करनेवाली आठों जातियों (लिच्छवि, ज्ञातृ, वैदेह, तीरभुक्ति प्रभृति) से एक एक प्रतिनिधि लेकर अष्टकुलक का निर्माण होता था।[६१] वैशाली में संस्थागार उनका शासकीय गृह था, जहाँ समानाधिकार प्राप्त लिच्छवि (वज्जि) जुटकर मंत्रणा करते थे। संस्थागार मे आवश्यकतानुसार सन्निपात भेरी बजाकर सभाएँ होती थीं। नियमानुसार प्रस्ताव की प्रज्ञप्ति और पुनर्वाचन (अनुश्रावण) होता था। शलाकाग्राहक की सहायता से रंगीन शलाकाओं द्वारा मतामत (छंद) का निराकरण होकर प्रस्ताव की स्वीकृति या अस्वीकृति (धारणा) होती थी। ऐसी ऋजु और प्रांजल होने के कारण ही वृजियों की शासनप्रणाली की प्रशंसा बुद्ध ने भी की थी। बुद्ध ने, जो स्वयं एक राजशब्दोपजीवी गणराज्य के शासक के पुत्र थे, अपनी संघ-व्यवस्था मे इसी जनतंत्रात्मक पद्धति का अवलंब लिया। वैशाली की अभिषेकमंगल पुष्करिणी[६२], जहाँ कोसल का सेनापति अपनी दोहदवती स्त्री मल्लिका को ले गया था,[६३] एक ऐतिहासिक स्थल था। वहाँ नवीन राजाओं का

५९—वही, भाग २ पृ० ८०, टि०।

६०—एक पण्णजातक।

६१—कनिंघम, एंशंट ज्याग्रफी ऑव इंडिया, ४४७

६२—वेसालिनगरे गणराजकुलाना अभिसेकमंगल पोक्खरिणीम्।

—फासबाल, जातक जि० ४, पृ० १४८

६३—बु० न०, ४७५

केवल अभिषेक होता था। उन्हें छोड़ वहाँ जानेवाला व्यक्ति दंड का भागी होता था। उक्त पुष्करिणी के चतुर्दिक् लगे लौह अवरोध की रक्षा प्रहरी करते थे। खाई और प्राचीरों से रक्षित वैशाली एक अ-योध्या नगरी थी जिसके भीतर राजगृह और श्रावस्ती को कँपानेवाले दुर्जेय लिच्छवि रहते थे।

अस्तु; अजातशत्रु यह समझ गया था कि ऐक्य और बल-वैभव में समृद्ध लिच्छवि अभेद्य हैं, अतः उन्हें पराजित करने के लिये गूढ़ कूटनीति का आश्रय आवश्यक है। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, उसे लिच्छवि-शक्ति से आशंका थी। उसके कुछ गंगातटीय क्षेत्र लिच्छवियों द्वारा आक्रांत भी रहा करते थे। यह स्पष्ट संकेत करता है कि वह इस ओर से चिंतित रहता था। राज्य-प्रसार के साथ ही रक्षा का प्रश्न भी सामने था। अतः उसने अपने अमात्यों को बुद्ध के निकट गृध्रकूट भेजा[६४], जहाँ उन अमात्यों ने लिच्छवियों के संबंध में वार्ता की। उनके द्वारा भी यह जानने पर कि लिच्छवि ऐक्य के कारण बलवान् हैं (सत्तअपरिहानिधम्म), कुणीक ने निश्चित रूप से अपना कूटचक्र चालित कर दिया और हम देखते हैं कि बुद्ध से वार्तालाप कर लौटते ही उसके अमात्य मगध के उत्तरी सीमांत-पुर पाटलिग्राम के संव्यूहन के लिये चल दिए। ऐसा इसलिये कि बुद्ध की उस अंतिम चारिका का पथ गृध्रकूट (राजगृह)–अंबलट्ठिका–निग्गालव (सिलाव)-नालंदा (बड़गाँव पटना)-पाटलिग्राम-वैशाली (बसाढ़) था।[६५] इस भाँति महापरिनिर्वाण सूत्र में देखा जाता है कि गृध्रकूट में मिले मागध अमात्य बुद्ध को पाटलिग्राम मे नवकर्म आदि कराते मिले है--लिच्छवि-प्रतिरोध की प्रेरणा से।[६६] पाटलिग्राम भी बहुधा आक्रांत रहता था, समय-समय पर लिच्छवि वहाँ भी उपद्रव करते थे।[६७] पाटलिग्राम (पाटलिपुत्र) की पुष्टि मगध की रक्षा के लिये सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थी, जिसे कुणीक ने अविलंब प्रारंभ करा दिया और यह पुर उसके भावी अभियान का स्कंधावार बनने लगा। अंततः, सदानीरा और कौशिकी के बीच बसनेवाले प्रजातंत्रात्मक प्रवृत्ति के लोगों पर अंकुश रखने के लिये पाटलिग्राम कुणीक और उसके उत्तराधिकारियों के लिये सुदृढ़ दुर्ग बना।

इसके अनंतर कुणीक ने अपने महामात्य वर्षकार (विनिश्चय महामात्य) से कृत्रिम झगड़ा कर उसे निर्वासित कर दिया।[६८] उसपर दोष यह लगाया कि वह

६४—दीघ० ११८ ६५—वही, ११८-२४ ६६—वही, १२४

६७—उदान अट्ठकथा, ८।६ ६८ दीघ०, ११९ पा० टि०।

लिच्छवियों के प्रति सहानुभूति रखना है। निर्वासित वर्षकार थोड़े समय में ही वज्जियों का विश्वासपात्र बन गया और वैशाली में भी वह विनिश्चय महामात्य के कर्त्तव्य पूरा करने लगा। अपने प्रति विश्वास दृढ़ कर उसने कलह-बीज बोना प्रारंभ किया, जिसने अंकुरित हो मागध सेनाओं के भावी आक्रमण को अपनी छाया में विश्राम दिया। लिच्छवि कंचन, कामिनी, कादंब, कूटनीति (मागध), कलह और कुमति के षट्कोण में फँसकर अपना व्यक्तित्व खो बैठे और अचिर ही वृजिगण मगध का अंग हो गया।[६९]

लिच्छवि-विजय में कुणीक की कूटनीति का दूसरा भी महत्त्वपूर्ण पक्ष है जो शाक्य और कोशल से संबंध रखता है और जिसमें भी वह पूर्णतः सफल रहा; पर विस्तार-भय से वह यहाँ उपस्थित नहीं किया गया।

अस्तु। उपर्युक्त विवेचन द्वारा हम यह देखते हैं कि महत्वाकांक्षी अजातशत्रु कुणीक विशुद्ध कूटनीतिक भाव-पीठिका पर तत्कालीन विवेचित वातावरण में स्थिर रहते हुए ब्राह्मण-काल के उस आदर्श के लिये भयानक रूप से प्रयत्नशील था जो निम्नलिखित उद्धरण मे निहित है—

सर्वेषा राज्ञा श्रैष्ठ्यमतिष्ठा पारमता गच्छेत् साम्राज्य भौज्य स्वाराज्य वैराज्यं पारमेष्ठ्य राज्यमाहाराज्यमाधिपत्यमय समन्तपर्यायी स्यात्सार्वभौम सार्वायुष आन्तादापरार्धात्पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति। (ऐतरेय ८।४।१)

६९—भगवतीसूत्र में लिच्छवि कुणीक युद्ध 'महाशिलाकण्टक' नाम से आया है जिसके कारण कुछ दूसरे बताए गए हैं (शतक ७ उद्देश ९)।

विमर्श

गुप्त सम्राट् और विष्णुसहस्रनाम (समीक्षा)

ना० प्र० पत्रिका के संवत् २००६ के प्रथम अंक में डाक्टर बहादुरचंद छाबड़ा का 'गुप्त सम्राट् और विष्णु सहस्रनाम' शीर्षक एक अत्यंत विमर्शपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है। उनकी मुख्य स्थापनाएँ निम्नलिखित हैं—

१—गुप्त कुल और गुप्त साम्राज्य में विष्णुसहस्रनाम का बहुत अधिक आदर था। कदाचित् गुप्त वंश के सभी स्त्री पुरुष इसका प्रतिदिन पाठ करते रहे हों और इसी के आधार पर उन्होंने अपनी संतान के नाम भी रखे हों। गुप्त, चंद्र, समुद्र, घट, कुमार, स्कंद प्रभृति नाम विष्णुसहस्रनाम में भगवान् विष्णु के नाम हैं।

२—समुद्रगुप्त के उपनामों मे जो पराक्रम, पराक्रमांक, कृतांत-परशु आदि उपाधियाँ मिलती हैं उनमें विष्णु की सत्यपराक्रम, खंडपरशु आदि संज्ञाएँ प्रतिध्वनित जान पड़ती हैं।

३—ध्रुवदेवी, अनंतदेवी, मित्रदेवी, कुमारदेवी और चंद्रदेवी—इन गुप्त महादेवियों और पटरानियों के नामों में विष्णु के ध्रुव, अनंत आदि नामों की छाया है।

४—आदित्य शब्द विष्णुवाची है। गुप्त सम्राटों के नाम प्रायः इसी लिये आदित्यांत हैं।

५—चंद्रगुप्त द्वितीय की उपाधि 'चक्रविक्रम' का स्पष्टीकरण विष्णुसहस्रनाम के इस श्लोक से होता है—

अरौद्रः कुण्डली चक्री विक्रम्यूर्जितशासनः।

"साथसाथ पड़े 'चक्री' और 'विक्रमी' से किस प्रकार 'चक्रविक्रम' का दोहन किया गया है!" इसी प्रकार चंद्रगुप्त द्वितीय की 'अजितविक्रम' और 'सिंहविक्रम' उपाधियाँ विष्णु के अमितविक्रम नाम की याद दिलाती हैं।

६—प्रथम कुमारगुप्त की मुद्राओं पर के उसके उपनाम महेंद्र, अजितमहेंद्र और सिंहमहेंद्र विष्णु के महेंद्र, अजित और सिंह नामों से बने हैं। 'गुह' शब्द

विष्णु और कुमार दोनों का पर्यायवाची है। अतः उसका महेंद्रकुमार नाम भी विष्णुपरक है।

७—गुप्त सम्राट् विष्णु भगवान् के परम भक्त थे। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि उनके आश्रित कवि उन्हें विष्णुरूप में प्रदर्शित करते थे। जैसे—

(क) कुमारगुप्त के सिंहमर्दन सिक्कों पर 'साक्षादिव नरसिंहः सिंहमहेंद्रो जयत्यनिशम्'—इस अभिलेख मे 'उसका विष्णु का अवतार होना सिद्ध ही है।'

(ख) सं० ५२४ के मंदसोर वाले बौद्ध शिलालेख के 'गोविंदवत् ख्यातगुण-प्रभाव.' उल्लेख से चंद्रगुप्त द्वितीय के वैष्णव प्रभाव की ख्याति प्रतिध्वनित होती है।

(ग) चंद्रगुप्त द्वितीय के 'देवराज', 'देवगुप्त' आदि नाम भी उसके विष्णुत्व के प्रतिपादक हैं। विष्णुसहस्रनाम में 'देव' शब्द विष्णु का पर्याय है।

(घ) हरिषेणकृत प्रशस्ति मे समुद्रगुप्त के लिये 'लोकसमयक्रियानुविधान-मात्र मानुषस्य लोकधाम्नो देवस्य', 'साध्वसाधूदयप्रलयहेतुपुरुषस्य' प्रभृति उल्लेख भी यही सिद्ध करते हैं कि कवि ने सम्राट् को जहाँ-तहाँ विष्णु मानकर उसका वर्णन किया है।

(ङ) अभिलेखों में जहाँ समुद्रगुप्त को 'पृथिव्यां अप्रतिरथ.' कहा है वहाँ चंद्रगुप्त द्वितीय को 'स्वयंचाप्रतिरथ.' कहा गया है। इनमे 'अप्रतिरथ' का अर्थ 'विष्णु' है। समुद्रगुप्त पृथ्वी पर विचरनेवाला विष्णु था और उसका पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय भी 'साक्षात् विष्णु'। 'अप्रतिरथ' का 'निःसपत्न' आदि अर्थ आपातत. ठीक प्रतीत होते हुए भी वास्तव मे वह विष्णु के लिये ही प्रयुक्त हुआ है।

डाक्टर छाबड़ा की अनेक स्थापनाओं से सहमत होते हुए भी हम उनसे सर्वथा सहमत नहीं हो सके हैं। विष्णुसहस्रनाम संभवत. गुप्तकाल में पर्याप्त जनप्रिय था। यह संभव है कि गुप्त अभिलेखो के रचयिताओं ने उसकी सुंदर एवं सार्थक पदावली का यत्र-तत्र प्रयोग किया हो, और यह भी निर्विवाद है कि कुछ अन्य कवियों के समान गुप्तकालीन कवियो ने भी अपने संरक्षकों को देववत् प्रदर्शित किया है। किंतु इससे अधिक कहना इतिहास की दृष्टि से ठीक है या नहीं, यह अवश्य विचारणीय है।

गुप्त, समुद्र, कुमार, चंद्र, सिंह, गुह, पुरु, घट आदि क्या वास्तव मे भगवान् विष्णु के नाम हैं? क्या समुद्रगुप्त आदि को ये नाम इसी लिये दिए गए कि गुप्त वंश के लोग भगवान् विष्णु के पूजक थे? कम से कम यह तो सिद्ध किया जा

सकता है कि ये सब नाम—केवल चंद्र को छोड़कर—विष्णु के मुख्य नाम न थे। गुप्तकालीन प्रसिद्ध कोषकार अमरसिंह ने विष्णु के ये नाम दिए हैं—

विष्णुर्नारायणः कृष्णो वैकुण्ठो विष्टरश्रवाः।
दामोदरो हृषीकेशः केशवो माधवः स्वभूः ॥१८॥
दैत्यारिः पुण्डरीकाक्षो गोविन्दो गरुडध्वजः।
पीताम्बरोऽच्युतः शार्ङ्गी विष्वक्सेनो जनार्दनः ॥१९॥
उपेन्द्र इन्द्रावरजश्चक्रपाणिश्चतुर्भुजः।
पद्मनाभो मधुरिपुर्वासुदेवस्त्रिविक्रमः ॥२०॥
देवकीनन्दनः शौरिः श्रीपतिः पुरुषोत्तमः।
वनमाली बलिध्वंसी कंसारातिरधोक्षजः ॥२१॥
विश्वम्भरः कैटभजिद्विधुः श्रीवत्सलाञ्छनः।

यादवप्रकाश प्रसिद्ध वैष्णव विद्वान् थे। उनके वैजयंती कोष में उपर्युक्त नामों के अतिरिक्त विष्णु के ये नाम और दिए है—

वभ्रु, त्रिककुत्, चक्री, श्रीवत्स, अरिष्टनेमि, अजित, श्रीधर, यज्ञपुरुष, मुंजकेश, मुररिपु, गदापाणि, अनंतशायी, वृंदाक, मुकुंद, धरणीधर, शतानंद, शतावर्त, युगावर्त, सुरोत्तम, कालकुंथ, रंतिदेव, हरि, असंपुष्, ब्रह्मनाभ, मधुसूदन।

शब्दकल्पद्रुम में विष्णु के १४३ नाम है। उनमें भी स्कंद, कुमार, घट आदि नामों का अभाव है।

गुप्तवंशी राजाओं ने अपनी संतान के नाम भगवान विष्णु के नाम पर ही रखे हों तो उन्हें विष्णु के मुख्य नामों से क्या द्वेष था? प्रायः लोग अपनी आस्थाओं को द्योतित करने के लिये मुख्य नामो को ही ढूँढा करते हैं। रहा विष्णुसहस्रनाम का प्रमाण। यदि उसे आधार माना जाय तो कदाचित् ही कोई देव-नाम बच सके। संपूर्ण विश्व उसके लिये विष्णुमय है। सभी देव उसकी विभूतियाँ हैं। शिव, ब्रह्मा, गुह सभी उसके रूप है। उसके आधार पर हम किसी भी देव-नाम को विष्णु का नाम कह सकते हैं।

गुप्तकालीन अमरकोष से सिद्ध है कि विष्णुसहस्रनाम का यह दृष्टिकोण सामान्यतः जनता में प्रचलित न था, यद्यपि जनता विष्णुसहस्रनाम से पूर्णतः अभिज्ञ रही होगी। तो क्या यह दृष्टिकोण केवल गुप्त राजाओं तक ही सीमित था कि वे अपने वैष्णवत्व को द्योतित करने के लिये अपने पुत्रों और अपनी रानियों तक के

नाम तो विष्णु के नाम पर रखें, किंतु इसके लिये वे विष्णु के मुख्य नामों को छोड़-कर विष्णुसहस्रनाम से केवल गौण नामों को चुनें? कम से कम हमें तो गुप्त अभिलेखों मे इसका विशेष आभास नहीं मिलता।

उदाहरणस्वरूप हम कुछ गुप्त सिक्कों पर विचार करेंगे। कुमारगुप्त को 'युद्ध में सिंहविक्रम' कहा गया है।[1] इसका अर्थ 'सिंह या विष्णु के समान पराक्रमी' हो सकता है। किंतु इस लेखवाले सिक्कों पर दी हुई सिंह की मूर्ति इस बात का निर्देश करती है कि इनका 'सिंह' केवल मृगराज सिंह ही है, विष्णु नहीं। इसी प्रकार जहाँ कुमारगुप्त को 'व्याघ्रबलपराक्रमः' बताया गया है वहाँ सिंह के स्थान पर व्याघ्र की मूर्ति है।[2]

इसी रीति से यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि गुप्त अभिलेखों में 'कुमार' शब्द से 'विष्णु' नहीं, 'कार्तिक' ही अभिप्रेत है। मयूरांकित मुद्राओं में जहाँ प्रथम कुमारगुप्त के लिये 'महेंद्रकुमार' शब्द प्रयुक्त हुआ है वहाँ मयूरवाहन कार्त्तिकेय की मूर्ति वर्तमान है। कई अन्य सिक्कों में भी कुमारगुप्त के इस कुमारत्व को ध्यान में रखते हुए ही संभवतः कुमार (कार्तिकेय) के वाहन मयूर की स्पष्ट या अस्पष्ट प्रतिकृति रखी गई है।[3] और यह भी असंभव नहीं कि कुमार कार्तिकेय के ही प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करने के लिये कुमारगुप्त ने अपने पुत्र का नाम स्कंद रखा हो। विष्णु के प्रति उसकी भक्ति का द्योतन विष्णु के किसी मुख्य नाम को चुनने से ही हो सकता था।

कुमारगुप्त ने 'महेंद्र' की उपाधि धारण की थी, किंतु यह भी संभवतः अपने विष्णुत्व के प्रदर्शन के लिये नहीं। अनेक यज्ञों का कर्ता होने के कारण कदाचित् उसने अपने को महेंद्रत्व का अधिकारी समझा हो। एक मुद्रा पर उसे 'महेंद्रकर्मा'[4] कहा भी गया है।

१—कुमारगुप्तो युधि सिंहविक्रमः।

—ऐलेन, गुप्त सिक्के, पृ० ८०

२—वही, पृ० ८१

३—वही, पृ० ७१, ७३, ७५

४—वही, पृ० ७५। इंद्र का एक नाम 'शतक्रतु' भी है। रघुवंश को यह कथा प्रसिद्ध ही है कि इंद्र ने अमर्ष के कारण दिलीप को केवल ९९ यज्ञ करने दिया।

उसके सिंहमर्दन प्रकार के सिक्कों से भी यह सिद्ध नहीं होता कि वह अपने को विष्णु का अवतार मानता था। 'साक्षादिव नरसिंहः सिंहमहेन्द्रो जयत्यनिशम्'— इस अभिलेख में कुमारगुप्त की नरसिंह से उपमिति मात्र उत्प्रेक्षित है। एकीभाव इससे द्योतित नहीं होता।

कुमारगुप्त का एक नाम 'अजितमहेंद्र' भी था, और उसके लिये मुद्राओं में 'दिवं जयत्यजितः' शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। किंतु ऐसे प्रसंग में केवल 'अजित' शब्द के कारण विष्णुत्व की ध्वनि ढूंढ़ना समीचीन नहीं प्रतीत होता। क्या यह संभव नहीं कि मुद्रा के अभिलेख के रचयिता ने विष्णुसहस्रनाम का नहीं, प्रत्युत किसी इस प्रकार के प्राचीन प्रयोग का अनुसरण किया हो जैसा कौटिल्य के अर्थशास्त्र के निम्नलिखित उद्धरण में हुआ है—

ब्राह्मणेनैधितं क्षत्रं मन्त्रिमन्त्राभिमन्त्रितम्।
जयत्यजितमत्यन्तं शास्त्रानुगतशास्त्रितम्॥[5]

यही कथा प्रथम कुमारगुप्त के पितामह समुद्रगुप्त की उपाधियों की है। वह 'पराक्रमांक' या 'पराक्रम' शब्द से प्रसिद्ध था।[6] उसे 'स्वभुजबल पराक्रमैकबंधु' कहकर प्रयाग-प्रशस्ति के रचयिता हरिषेण ने स्वयं इस उपाधि की सार्थकता दिखाई है। यहाँ हम चाहें तो 'पराक्रम' शब्द में 'विष्णु' को ढूंढ़ें, किंतु इसका यह अर्थ लेने की बात रचयिता के मस्तिष्क में संभवतः नहीं थी। समुद्रगुप्त को 'पृथिव्यां अप्रतिरथः' कहने का कारण भी इसी प्रयाग-प्रशस्ति में विद्यमान है। उसने अनेक दक्षिणी राजाओं को पकड़कर छोड़ दिया, उत्तरापथ के नौ राजाओं को समूल नष्ट किया, सब आटविक राजाओं को अपना परिचारक बनाया, समतट आदि के प्रत्यंत राजाओं और मालवादि गणों से कर प्राप्त किया और कुषाण, शक, सैंहलक प्रभृति से उपहार आदि प्राप्त किए। सर्वत्र उसके गरुड़ांकित शासनों की माँग और धाक थी; या संक्षेप में यों कहिए कि उसका 'प्रतिरथ' अर्थात् उससे मोर्चा लेनेवाला योद्धा कोई न था। वह वास्तव में 'अप्रतिरथ' था, क्योंकि समरांगण में अजेय था; इसलिये नहीं कि लोग उसे विष्णुरूप समझते थे।

डाक्टर छाबड़ा ने समुद्रगुप्त के अभिलेखों में 'अप्रतिरथ' शब्द को विष्णुवाची मानने के लिये विष्णुसहस्रनाम के अतिरिक्त एक और आधार लिया है। समुद्रगुप्त

५—प्रथम अधिकरण, नवम अध्याय।

६—द्रष्टव्य ऐलेन : गुप्त सिक्के, पृ० १-५ एवं समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति।

के धनुर्धारी प्रकार के सिक्कों में सामने की ओर एक तो है अविभक्तिक 'समुद्र' शब्द और दूसरा वृत्तबद्ध यह अभिलेख—

अप्रतिरथो विजित्य क्षितिं सुचरितैर्दिवं जयति।

यहाँ 'अप्रतिरथ' को 'जयति' क्रियापद का कर्ता मानकर डा० छाबड़ा ने कल्पना की है कि 'अप्रतिरथ' यहाँ संज्ञापद है, विशेषण नहीं। उनके कहने का विशेष अभिप्राय यह है कि समुद्रगुप्त मे अप्रतिरथ रूप विष्णु का अध्यारोप किया गया है। परंतु हमें यह युक्ति विशेष बलवती नहीं प्रतीत होती।

सुचरित द्वारा मनुष्य स्वर्ग की प्राप्ति करता है, भगवान् 'अप्रतिरथ' विष्णु के लिये तो वह कोई ऐसी प्राप्य वस्तु नहीं कि वे उसके लिये केवल यज्ञों का अनुष्ठान ही न करें, अपितु लोक में यह घोषित भी करे कि विष्णु इनके द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति कर रहे हैं। 'समुद्र' शब्द का भी अविभक्तिक या सविभक्तिक होना विशेष प्रयोजन नहीं रखता। उसकी उपस्थिति ही यह बताने के लिये पर्याप्त है कि अभिलेख उसी के विषय में है और उसके विशेषण एवं क्रियापद येनकेन प्रकारेण उसी से संबद्ध है। अभिलेखों के सामान्य अध्ययन से भी प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त को अपने अप्रतिरथत्व अर्थात् अप्रतिभटत्व का विशेष गर्व था। जहाँ छंद-विन्यास मे 'अप्रतिरथ' शब्द ठीक न बैठा वहाँ उसने उसके समानार्थक समस्त पद 'अप्रतिवार्यवीर्य' का प्रयोग किया है। उसकी अश्वमेध प्रकारवाली मुद्राओं का अभिलेख इस प्रकार है—

राजाधिराजः पृथिवीमवित्वा दिवं जयत्यप्रतिवार्यवीर्यः।

स्पष्टतः इस लेख का और धनुर्धर प्रकार की मुद्राओ के अभिलेख का (जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है) अर्थ सर्वथा एक है। केवल छंद के भिन्न होने के कारण यहाँ 'अप्रतिरथ' के स्थान पर 'अप्रतिवार्यवीर्य' का प्रयोग किया गया है। उसके इस प्रयोग से हम निश्चित रूप से कह सकते है कि 'अप्रतिरथ' शब्द केवल समुद्रगुप्त के अद्वितीय वीर्य को द्योतित करने के लिये ही अभिलेखो मे प्रयुक्त हुआ है। एरण के शिलालेख में भी 'अप्रतिरथ' के स्थान पर 'अप्रतिवार्यवीर्य' का प्रयोग उल्लेखनीय है।[७]

७—······· न भक्तिनयविक्कम तोषितेन
यो राजशब्द विभवैरभिषेचनाद्यैः।
······ ··नितः परमतुष्टि पुरस्कृतेन
······ ···वो नृपतिरप्रतिवार्यवीर्यः ॥ ४ ॥

ऊपर कहा जा चुका है कि कुछ कवियों ने गुप्त राजाओं को संभवतः देवतुल्य दिखलाने का प्रयत्न किया है। यह भावना तो गुप्तकाल से पूर्व ही भारत में प्रवर्तित हो चुकी थी। किंतु स्वयं गुप्त सम्राटों ने ऐसा ख्यापन करने का प्रयत्न नहीं किया। उनके सिक्के प्रायः उनके विक्रम के ही द्योतक हैं, उनके विष्णुत्व के नहीं; और ऐसा होना उचित भी था। यह ठीक प्रतीत नहीं होता कि जो सम्राट् अपने को परम भागवत आदि कहते हों वही अपने को भगवान् कहने लगें। भक्तिमार्ग में इस अहम्मन्यता के लिये स्थान नहीं है। कवियों ने उन्हें चाहे जो कुछ भी कहा हो, स्वयं उन सम्राटों ने राज्य भर में प्रचलित होनेवाली अपनी मुद्राओं द्वारा कभी ऐसा दावा नहीं किया।

मुद्राओं में प्रयुक्त अनेक उपाधियों के विष्णुत्व-प्रतिपादक अर्थ का हम निराकरण कर चुके हैं। यहाँ एकाध पर और विचार करेंगे। जिस प्रकार समुद्रगुप्त की 'पराक्रमांक', 'अप्रतिरथ' आदि उपाधियाँ थीं, उसी प्रकार उसका पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय भी 'विक्रमादित्य', 'विक्रमांक' आदि नामों से विख्यात था। उसके लिये मुद्राओं में 'चक्रविक्रम' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। चाहे इस नाम का दोहन विष्णु-सहस्रनाम से हुआ हो या नहीं, पर मुद्रा पर की मूर्तियों को ध्यान में रखते हुए[८] संभवतः इसका यही अर्थ किया जा सकता है कि भगवान् ने उसे सुदर्शनचक्र का सा विक्रम प्रदान किया था। इसी भगवत्प्रसाद के कारण वह 'देवगुप्त' और 'देवश्री' भी था।[९] उसने अपने पिता के समान दिग्विजय किया था। विदेशी शत्रुओं को परास्त कर भारत से खदेड़ दिया था। अतः वह भी समुद्रगुप्त की भाँति अपने शिलालेखों में 'स्वयं च अप्रतिरथः' कहलाने का अधिकारी था। अत्यंत भगवद्भक्त द्वितीय चंद्रगुप्त की पुत्री, वाकाटक-राज्ञी प्रभावती, जब अपने पिता को 'परम भागवत' कहती हुई उसे 'पृथिव्यां अप्रतिरथ', 'सर्वराजोच्छेत्ता' आदि विशेषणों से अभिहित करती है तो स्पष्ट है कि वह उसे पृथ्वी पर 'साक्षात् विष्णु'

इस संबंध में धर्मादित्य और गोपचंद्र के शिलालेखों में भी 'अप्रतिरथ' शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है।

८—इस मुद्रा के सामने की ओर जो दृश्य अंकित है वह अत्यद्भुत है। डा० अल्तेकर के शब्दों में इसमें द्वितीय चंद्रगुप्त विष्णु से एक दिव्य उपहार प्राप्त कर रहा है।

—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५४, अंक १, पृ० ४–५

९—ये उसकी प्रसिद्ध उपाधियाँ हैं।

नहीं समझ रही है। चंद्रगुप्त का अप्रतिरथत्व इसी मे था कि उसने विरोधी राजाओं को निर्मूल किया था और उसके निरुपम शौर्य की कीर्ति दिग्दिगंत में व्याप्त थी। चंद्रगुप्त की 'नरेंद्रसिंह', 'सिंहविक्रम', 'विक्रमांक', 'विक्रमादित्य' आदि अन्य उपाधियाँ भी बिना विष्णुत्व के आरोप के सुंदर अर्थ देती हैं। स्वयं 'चंद्र' शब्द का अर्थ 'विष्णु' हो सकता है, परंतु कवि तो संभवत चंद्रगुप्त के 'चंद्र' में विष्णुत्व को न देखकर चंद्रमा के सौम्यत्व और सौंदर्य का ही दर्शन करते थे। अपने परम भागवत महाराजा को विष्णु का ध्वज स्थापित करते देखकर वे बराबर कह उठते थे—

> चन्द्राह्वेन समग्र चन्द्र सदृशीं वक्त्रश्रियं बिभ्रता।
> प्राशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः।[१०]

यह ऊपर बतलाया ही जा चुका है कि 'सिंहविक्रम' का अर्थ 'विष्णु के समान पराक्रमी' न कर 'मृगराज सिंह के समान विक्रमी' करना ही श्रेष्ठ है। रहा विक्रमादित्य विरुद, इसे तो समय-समय पर भारतीय राजाओं ने अपने विक्रम और तेज की स्थापना के लिये धारण किया ही है, चाहे वे वैष्णव रहे हों य अवैष्णव। यह भी ध्यान मे रहे कि विक्रमादित्य प्रभृति शब्द मे 'विक्रम' शब्द व्यक्तिवाचक नहीं, प्राय भाववाचक संज्ञा पद है।

डाक्टर छाबड़ा की प्रत्येक युक्ति को लेने से लेख दीर्घकाय हो जायगा। इसकी विशेष आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि जिन कारणों से हम उनसे सहमत नहीं है वे सामान्यत. ऊपर निर्दिष्ट हो चुके हैं। उनका अन्य युक्तियो मे अतिदेश किया जा सकता है।

—दशरथ शर्मा

१०—चंद्र के महरौली लौहस्तंभ वाले लेख के अंतिम वृत्त की दूसरी और चौथी पंक्तियाँ।

चयन

ले० क० सारंगधरसिंह का भाषण

गत २८ और २६ अक्तूबर को पटना विश्वविद्यालय मे हुए हिंदीभाषी क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों के कुलपति-सम्मेलन में उसके सयोजक उक्त विश्वविद्यालय के कुलपति ले० क० सारंगधर सिंह ने जो स्वागत-भाषण दिया था वह हिंदी द्वारा उच्च शिक्षा विषयक सामान्य अभिरुचि और महत्त्व का होने के कारण उसका मुख्यांश यहाँ उद्धृत है—

हमारे संविधान की ३४३ वीं धारा के अनुसार हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि को राष्ट्रीय भाषा और लिपि का स्थान दिया जा चुका है। संविधान की ३५१वीं धारा में यह भी स्वीकार किया जा चुका है कि हिंदी भाषा का समुचित विकास करना भारतीय संघ का कर्त्तव्य होगा। संविधान मे अंग्रेजी भाषा को अपनी जगह पर बनी रहने देने के लिये १५ वर्षों की जो छूट दी गयी है उसका तात्पर्य, वास्तव मे, यह है कि हम इस अवधि मे अपनी भाषा को और भी धनी और समर्थ बना सकें, साथ ही अहिंदी-भाषाभाषी प्रांतों के लोग इस बीच हिंदी की जानकारी प्राप्त कर सकें। इस अवधि को अंग्रेजी का प्रभुत्व बढ़ाने के लिये अवकाश काल समझना भूल है। मैं यहाँ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अंग्रेजी भाषा और साहित्य के लिये मेरे मन में आदर का भाव है। अंग्रेजी बड़ी शक्ति-शालिनी भाषा है। विदेशों से विचार-विनिमय का हमारे लिये यह भाषा बहुत उपयोगी साधन है। इसका साहित्य भव्य है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि हम किसी पराई भाषा की गुलामी करते रहें।

अंग्रेजी हमारे विश्वविद्यालयो में आनेवाले सभी छात्रों के लिये अनिवार्य विषय बनी रहेगी, मैं यह आशा करता हूँ। किंतु राष्ट्रभाषा के स्थान पर अंग्रेजी के लिये वकालत करना हमारी मानसिक दासता का प्रमाण नहीं तो और क्या कहा जायगा ? सुराज यदि कभी स्वराज्य के लिये हमारी भूख नहीं मिटा सकता तो कैसी भी समर्थ कोई पराई भाषा कभी हमारी राष्ट्रभाषा का स्थान नहीं ले सकती। मैं संसार के किसी भी ऐसे स्वतंत्र देश को नहीं जानता जहाँ कोई विदेशी

भाषा दैनिक व्यवहार की भाषा हो, उस देश के नागरिकों की शिक्षा का माध्यम हो। हिंदी की मर्यादा कुछ कोरी भावुकता पर आश्रित नहीं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करने पर भी शिक्षा का पूर्ण लाभ हम तभी उठा सकते हैं जब हमारी मातृभाषा, या हमारी राष्ट्रभाषा, उसका माध्यम हो। संविधान परिषद् ने हिंदी को राष्ट्रभाषा मानकर अपनी निष्पक्षता और दूरदर्शिता का ही परिचय दिया है। सभी बातों पर विचार करते हुए आज की परिस्थिति में, अपने विश्वविद्यालयों में हिंदी को शिक्षा का माध्यम बनाने की समस्या पर विचार करना और अपने विचारों को शीघ्र कार्यान्वित करना, हमारे लिये अब नितांत आवश्यक है।

भारतीय संघ की भाषा हिंदी तथा देश की भिन्न भिन्न स्थानीय भाषाओं के पारस्परिक संबंध को लेकर जहाँ तहाँ भ्रम है, निराधार शिकायतें की जा रही हैं। हिंदी का भारत की किसी भी भाषा से किसी प्रकार का वैर नहीं। हिंदी उनकी सहगामिनी होना चाहती है, सौत होना नहीं। अपने संकुचित दृष्टिकोण के कारण यदि हमने एकमत से हिंदी को अपना सहयोग नहीं दिया तो हम निर्विवाद ही अपने राष्ट्र का अहित कर रहे हैं।

प्रसन्नता की बात है कि इस क्षेत्र मे विश्वविद्यालय-शिक्षा-कमीशन ने सिफारिश की है कि अंग्रेजी के बदले, किसी भारतीय भाषा को जितनी जल्दी संभव हो उच्च शिक्षा का माध्यम बनाया जाय। "विश्वविद्यालय-शिक्षा-कमीशन भारतीय विश्वविद्यालयों को एक या अधिक विषयों मे भारतीय संघ की भाषा के माध्यम से शिक्षा की व्यवस्था के लिये अवसर देने के पक्ष में है। इंटर-युनिवर्सिटी बोर्ड की राय है—"किसी भारतीय भाषा को अंग्रेजी का स्थान तो लेना ही है, फिर भी शिक्षा के स्तर और शिक्षण-पद्धतियों को जिसमें किसी तरह की हानि न होने पाए, हमें इस दिशा मे सावधानी से कदम बढ़ाना चाहिए।" इस कार्य में सोच-समझकर अग्रसर होने की आवश्यकता है, यह मै मानता हूँ। कमीशन और बोर्ड ने इस प्रश्न पर अपनी सिफारिशों मे जिस सावधानी से काम लिया है, मैं भी उसकी आवश्यकता स्वीकार करता हूँ। देश के किसी भी भाग पर उसकी इच्छा के बिना हिंदी को लादने के मैं बिलकुल विरुद्ध हूँ। पर मै इस सत्य से आँखे नहीं मूँद सकता कि आज नहीं तो कल, अंग्रेजी के बदले किसी भारतीय भाषा को समूचे भारत में उच्च शिक्षा के माध्यम का स्थान लेना है, और न इस सत्य की अवहेलना कर सकता हूँ कि राष्ट्रीय, वैज्ञानिक तथा बहुतेरे दूसरे कारणों से हिंदी ही वह स्थान ग्रहण करने के योग्य है।

मैं आशा करता हूँ कि अहिंदीभाषी क्षेत्रों के विश्वविद्यालय इस संबंध में उस उदारता और विवेक का परिचय देंगे जिसकी अपनी शिक्षा-संस्थाओं से हम आशा रखते है, और इन विश्वविद्यालयों को समयानुसार शिक्षा के माध्यम के रूप में हिंदी को अपनाने में कोई आपत्ति नहीं होगी।

अहिंदीभाषी क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों को हिंदी को ग्रहण करने के लिये समय की आवश्यकता हो सकती है, पर हिंदीभाषी क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों को तो शिक्षा के माध्यम के रूप में हिंदी को जल्द से जल्द स्थान देना चाहिए। इस उद्देश्य से हम सभी सहमत हैं। संघ की भाषा और स्थानीय भाषा—इनमें से किसको माध्यम बनाया जाय, यह उलझन हमारे लिये नहीं। संघ की भाषा हिंदी है और हमारी स्थानीय भाषाएँ भी हिंदी का ही कोई न कोई रूप हैं। हमे तो निर्विवाद, आश्वस्त होकर, इस काम को अपने हाथो मे लेना है और पूरा करना है। यह आदर्श एक ओर जहाँ राष्ट्रनिर्माण के प्रति अपना उत्तरदायित्व निभाने की हमें प्रेरणा देनेवाला है वहाँ दूसरी ओर हमारी बुद्धिमानी और मिलजुलकर काम करने की हमारी योग्यता के लिये यह एक खुली चुनौती भी है। पारस्परिक सहयोग और सद्भाव के सहारे हम अपना यह महान लक्ष्य सिद्ध कर सकेंगे, इसमे मुझे कोई सदेह नहीं।

हिंदी को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने की दिशा में सबसे बड़ी कठिनाई पुस्तकों का अभाव है। हमारे सम्मेलन के विचार-विनिमय में इस समस्या का निश्चय ही प्रमुख स्थान होगा। दूसरा पेचीदा सवाल पारिभाषिक शब्दों का है। देश के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न विद्वान् विज्ञान, व्यवसाय, शासन आदि विषयों के पारिभाषिक शब्द प्रस्तुत करने का एक लंबे अरसे से प्रयत्न करते आ रहे हैं। इस गहन समस्या का आंशिक समाधान भी अभी संभव नहीं हो सका है। समाचारपत्रों से इधर मालूम हुआ है कि भारत सरकार के शिक्षा-विभाग ने पारिभाषिक शब्दों के निर्माण के लिये एक समिति बनाने का निश्चय किया है।* पर हिंदीभाषी क्षेत्रो के विश्वविद्यालयों को इतने से संतुष्ट होकर चुप बैठना कहाँ तक न्यायसंगत होगा, यह विचारणीय है। उन्हें इस काम को पूरा करने की जल्दी होनी चाहिए और इस प्रश्न पर गंभीरता से सोचना चाहिए। अंत में पैसे का प्रश्न आता है और यह निश्चय ही बड़ा टेढ़ा प्रश्न है। किसी सम्मिलित

---

* यह समिति अब बन चुकी है।—स०

योजना के अनुसार चलकर ही इस संबंध की अपनी कठिनाइयों कुछ दूर तक हम हल कर सकते हैं।

जिस विषय पर विचार करने के लिये हम आज यहाँ एकत्र हैं उसके संबंध में कुछ निश्चित सुझाव उपस्थित करने के लिये अब मैं आपकी अनुमति चाहता हूँ। इन प्रस्तावों मे बहुतेरी त्रुटियाँ हैं, काफी अपूर्णता है, फिर भी आशा करता हूँ, अपने उद्देश्य की छानबीन और संशोधन-संवर्धन के बाद ये हमारे काम के हो सकेंगे। इस सम्मेलन की कार्यवाही के जैसे तैसे मसविदे के रूप में ही मैं अपनी ये सिफारिशें आपके आगे रख रहा हूँ :

(क) हिंदी ग्रंथों के निर्माण-कार्य के लिये किसी सम्मिलित योजना में भाग लेनेवाले विश्वविद्यालयों के प्रयत्नों की देखभाल करने को एक केंद्रीय समिति बनाई जाय। इस समिति में योजना को स्वीकार करनेवाले सभी विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि रहेंगे। योजना की नीति निर्धारित करना, इस संबंध की सभी कारवाइयों का संचालन और निरीक्षण करना तथा केंद्रीय सरकार से आर्थिक सहायता प्राप्त करना और विश्वविद्यालयों में इस प्रकार प्राप्त की हुई रकम का आवश्यकतानुसार वितरण करना, ये सभी काम इस केंद्रीय समिति के हाथ में होंगे।

(ख) भिन्न-भिन्न विषयों के पारिभाषिक शब्दों के लिये भी एक केंद्रीय समिति बनाई जाय। इस केंद्रीय समिति मे भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों के भाषा-विज्ञान तथा हिंदी के विद्वान् रहेंगे और ये लोग समय समय पर जब जिस विषय के पारिभाषिक शब्दों पर विचार करेंगे तब उस विषय के जानकार हिंदीभाषी विद्वानों को सभी विश्वविद्यालयों से बुलाएँगे और मिलजुलकर इस कार्य को आगे बढ़ाएँगे। इस केंद्रीय समिति के अधीन अलग-अलग विश्वविद्यालयों में अलग-अलग उपसमितियाँ काम करें। प्रत्येक उपसमिति में भाषाविज्ञान और हिंदी भाषा के कुछ विद्वान रहें और साथ ही उन विषयों के हिंदी-भाषाभाषी विद्वान् भी, जिन विषयों में इस समिति को पारिभाषिक शब्द प्रस्तुत करने हैं। इसका आशय यह है कि इस प्रकार की एक एक उपसमिति का भार एक एक विश्वविद्यालय को सौंपा जाय और इसमें उसी विश्वविद्यालय के शिक्षकों को स्थान दिया जाय। मेरे जानते अखिलभारतीय हिंदी-साहित्य-संमेलन के किसी प्रतिनिधि को भी पारिभाषिक शब्दों की केंद्रीय समिति में हमें आमंत्रित करना चाहिए।

(ग) प्रत्येक विषय के लिये, जिसपर हमें पुस्तकों की आवश्यकता है, एक समिति हमें बनानी चाहिए। इस समिति का काम होगा कि वह पहले अपने विषय की उन पुस्तकों की सूची तैयार करे जिनका हिंदी अनुवाद उसकी राय में आवश्यक है। ऐसी पुस्तकों की तालिका भी यह समिति बनाएगी जिन्हें मूल रूप में वह लिखना चाहती है और इन पुस्तकों का ढाँचा भी वह लेखकों को बतलाएगी। अनुवादको और लेखकों का चुनाव भी यही समिति करेगी। प्रत्येक विषय के लिये जो समिति बनेगी उसके सदस्यों का चुनाव इस योजना में भाग लेनेवाले सभी विश्वविद्यालयों के उस विषय के विद्वानों को ध्यान में रखकर होगा। पारिभाषिक शब्दों के लिये जहाँ मै यह चाहता हूँ कि काम पहले अलग अलग विश्वविद्यालयो में हो और फिर उसका केंद्रीय निरीक्षण हो, वहाँ पाठ्य पुस्तकों के प्रणयन के संबंध में मै चाहता हूँ कि यह प्रारंभ से ही सभी विश्वविद्यालयों से चुने हुए विशेषज्ञ विद्वानो की समिति को सौंप दिया जाय। मेरे जानते इन दोनों कामों के लिये ये दो प्रणालियाँ उपयोगी सिद्ध होंगी।

(घ) केवल डिग्री और एम० ए० परीक्षाओं की पुस्तकों का काम ही हम अपने हाथों मे ले। इंटरमीडिएट परीक्षाओं की किताबों को अलग छोड़ देने की मैं जो राय दे रहा हूँ उसके दो कारण हैं। एक तो यह कि इंटरमीडिएट का पाठ्यक्रम विश्वविद्यालयो की पढ़ाई में सम्मिलित किया जाय या नहीं, इस संबंध मे हमारे अलग अलग विचार हो सकते हैं। दूसरे इंटरमीडिएट की सरल पुस्तकों का काम हम प्रकाशकों के हाथ बिना किसी क्षति के छोड़ सकते हैं।

(च) जब पुस्तकें तैयार हो जायँ तो लेखकों और ग्रंथों का चुनाव करनेवाली समिति उन्हें केंद्रीय निरीक्षण-समिति के पास भेज दे। फिर केंद्रीय निरीक्षण-समिति इन पुस्तकों के प्रकाशन का उत्तरदायित्व भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों को सौंप दे। ऐसा करते समय केंद्रीय समिति पुस्तकों की छपाई का व्यय और उनसे होनेवाली आय, इन आर्थिक पहलुओं का भी ध्यान रखे और यदि बहुत कम बिकनेवाली कोई पुस्तकें किसी विश्वविद्यालय को दी जायँ तो उसे खास इस काम के लिये एक निश्चित रकम भी केंद्रीय समिति अपने कोष से दे।

(छ) विश्वविद्यालय अपने राज्यों की सरकारों से आर्थिक सहायता के लिये अलग अलग प्रयत्न करें।

(ज) पाठ्य पुस्तकों को सम्मिलित रूप से तैयार करने की कोई योजना इसी आधार पर बनाई जा सकती है कि योजना में भाग लेनेवाले विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में भी समानता रहेगी। लेखकों और विद्वानों के निर्वाचन के लिये जो विशेषज्ञ समिति बनाई जायगी वही इस काम का भी उत्तरदायित्व ले सकती है।

हमारे मार्ग की कठिनाइयाँ अनेक हैं, किंतु हमारा उद्देश्य महान् है और पारस्परिक सहयोग के सहारे हम निश्चय ही इसमें सफल हो सकेंगे। कुछ लोगों की दृष्टि में संभव है, हमारा कार्य हमारी शक्ति के बाहर प्रतीत हो, किंतु हम यह क्यों भूलें कि साहस ही सफलता की जननी है।

[भाषण में दिए गए सुझावों के आधार पर उक्त सम्मेलन ने पाठ्य ग्रंथ तैयार कराने के लिये केंद्रीय समिति बनाने तथा पारिभाषिक शब्द-संग्रह के लिये भिन्न भिन्न विश्वविद्यालयों पर भिन्न भिन्न विषयों का उत्तरदायित्व बाँट देने की सिफारिश की। —स०]

सम्मेलन के सभापति का अभिभाषण

अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के कोटा अधिवेशन के सभापति श्री जयचंद्र विद्यालंकार के अभिभाषण (२६ दिसंबर, १९५०) के कुछ मुख्य अंश यहाँ उद्धृत हैं—

भारतीय दृष्टि से मौलिक अध्ययन की आवश्यकता

सन् १९१४ से ही काँगड़ी गुरुकुल में आधुनिक विज्ञान के पाठ्य ग्रंथ हिंदी में तैयार कराने का प्रयत्न आरंभ किया गया। उस प्रसंग मे दो चार बरस मे ही यह अनुभव हो गया कि भारतीय भाषाओं मे अभीष्ट वैज्ञानिक ग्रंथ युरोपी भाषाओं के सीधे अनुवाद से तैयार नहीं हो सकते। वह अनुभव अत्यंत महत्त्व का था और आज उसे हृदयंगत किए बिना हम एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकते।

उदाहरण रूप में हमे अपनी भाषाओं में इतिहास-ग्रंथ चाहिएँ। पर युरोपियों के लिखे इतिहासों के अनुवादों से हमारा काम नहीं चलता। भारतीय विद्वान् देश-विदेश के इतिहास का मूल स्रोतों से भारतीय दृष्टि से अध्ययन-मनन कर अपने परिपक्व विचारों को दर्ज करें तभी उनकी कृतियाँ हमारी इतिहास वाङ्मय की आवश्यकता को पूरा कर सकती हैं। भारतीय दृष्टि से लिखे इतिहास की माँग इस समय से देश में बराबर बनी रही और उस प्रकार के अध्ययन के लिये कोई सुविधा न होते हुए भी अनेक निष्ठावान् विद्वान् इस दिशा में काम करते रहे।

भारतीय इतिहास के पहले ही अध्याय में हमारे लिये प्रश्न उठता है कि हिमालय की सबसे बड़ी चोटी का नाम क्या है। अंग्रेजों ने एक अंग्रेज का नाम उसपर मढ़ा है और दुनिया को यह दिखाने की कोशिश की है कि परलोकचिंतक भारतीयों ने अपने देश की उस महान् प्राकृतिक विभूति पर कभी ध्यान ही नहीं दिया। पर नंगा पर्वत से नमचा बरुआ तक हिमालय की प्रत्येक चोटी को जिन भारतीयों ने नाम दिए थे वे उसकी सबसे बड़ी चोटी को ही देखने से चूक जाते, यह बात साधारण बुद्धि से मानने की न थी और जर्मन, स्वीड और फ्रांसीसी विद्वान् भारत के अंग्रेज शासकों को वह नाम छिपाने का दोष देते रहे। हमारे देश की मैकाले-युनिवर्सिटियों मे वर्ड्सवर्थ और टेनिसन की अंग्रेजी पर खोजें होती रहीं, पर अपने देश के इस सीधे से प्रश्न पर ध्यान देने को किसी को न सूझी। अंत में "भारतभूमि और उसके निवासी" में यह सुझाया गया कि दूधकोसी दून में जाकर वह नाम खोजना चाहिए और एक अकिंचन सत्यान्वेषी ने सरगमाथा का नाम खोज निकाला जिसकी सचाई अन्य अनेक स्रोतों से प्रमाणित हुई। बाबूराम खरदार ने अपनी यह खोज एक भारतीय भाषा की पत्रिका[1] में प्रकाशित की, अतः हमारे देश के उन साहब लोगों ने, जो अंग्रेजी की खिड़की मे से ही दुनिया को देखते है, पिछले दस बरस से अपने को इस ज्ञान की किरण से वंचित रखा।

भारत के इतिहास को अंग्रेजों ने हिंदू, मुस्लिम और ब्रितानवी युगों मे बॉटा था। पर जैसा कि मैंने इस सम्मेलन के नागपुर अधिवेशन (१९३६) की इतिहास परिषद् के अध्यक्षीय भाषण में कहा था, "यदि इतिहास का प्रयोजन राष्ट्रीय जीवन के क्रमविकास को टटोलना है तो यह युगविभाग उस विकास की सर्वथा उपेक्षा ही नहीं करता, प्रत्युत उसका गलत और भ्रांत चित्र उपस्थित करता है।" उसका ठीक चित्र उपस्थित करने के लिये सर्वथा नए अध्ययन की आवश्यकता है। हमारे सल्तनत युग (११९४-१५०९) का इतिहास केवल फारसी-अरबी सामग्री के आधार पर कहा गया है, पर उसकी संस्कृत-देसीभाषा सामग्री भी उतने ही महत्त्व की है। दोनों सामग्रियों के सामंजस्यात्मक अध्ययन की मॉग बराबर बनी है। राखालदास बनर्जी और गौरीशंकर ओझा ने उस प्रकार के अध्ययन के बढ़िया नमूने भी पेश किए हैं। भारतीय इतिहास के ब्रितानवी युग के वृत्तांत में अंग्रेजी

१—काठमाडू से प्रकाशित पर्बतिया पत्रिका "शारदा", १९४०

लेखकों ने किस प्रकार सत्य की हत्या की है और किस प्रकार भारतीय दृष्टि से नए अध्ययन की आवश्यकता है, यह वामनदास वसु ने दिखाया है। वैसे अध्ययन के लिये दर्जनों सत्यान्वेषकों की आवश्यकता है।

इतिहास को छोड़कर अब हम समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र और राजशास्त्र पर ध्यान दें। इन विषयों पर युरोपी भाषाओं मे जो ग्रंथ हैं, उनके सिद्धांत युरोपी समाज के अनुभव, युरोपी इतिहास और युरोपी संस्थाओं को लक्ष्य में रखकर निश्चित हुए हैं। जैसे वैयक्तिक संपत्ति का विकास कैसे हुआ, पूँजीपति और श्रमी वर्गों के संबंधों की परिणति कैसे हुई, विवाह की संस्था कैसे उगी, नगर-राष्ट्रों से बड़े राष्ट्र कैसे बने, इस प्रकार के प्रश्न उपस्थित होने पर युरोपी अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और राजशास्त्र यूनान के अनुभव से आरंभ करते और रोम और मध्यकालीन युरोप के जीवन-विकास को टटोलते हुए आधुनिक युरोप तक पहुँचते है। उनके लिये वैसा करना ठीक है। किंतु जब उनके ग्रंथो का शब्दानुवाद भारतीय भाषाओ मे पेश किया जाता है, तब भारतीय पाठक को वह वस्तु अपनी नहीं लगती। उसके मन में आश्चर्यपूर्वक प्रश्न उठता है कि क्या भारत मे संपत्ति-वर्ग-संबंधों, विवाह और राष्ट्रो का विकास नहीं हुआ, क्या भारत का ज्ञान इन विषयों में शून्य है। भारतीय भाषाओं में इन शास्त्रो की जड़ तभी जमेगी तब हमारे विद्वान् अपने देश के इतिहास, अपनी संस्थाओ और अपने स्वतंत्र चिंतन पर भारतीय सामाजिक विज्ञानो को खड़ा करेंगे। हो सकता है इस भारतीय दृष्टि के अध्ययन से वे सिद्धांत और भी पुष्ट और स्पष्ट हो जायँ जिन्हें युरोपी आचार्यों ने स्थापित किया है। हो सकता है हमे उनमे कुछ फेरफार करना पड़े। किंतु हर दशा में भारतीय जनता को इन विषयों में तभी जगाया जा सकता है जब हम भारतीय सामग्री के भारतीय दृष्टि से अध्ययनपूर्वक भारतीय भाषाओं मे इन्हें पेश करें।

यह सोचा जा सकता था कि इतिहास और सामाजिक विज्ञानों पर यह बात लागू होगी, किंतु भौतिक विज्ञान तो सब देशों के लिये एक से है, अत. उनके ग्रंथों का युरोपी भाषाओं से सीधा अनुवाद किया जा सकेगा। पर ध्यान देने से प्रकट हुआ कि वह भी नहीं हो सकता। उदाहरण के लिये, जैसा मैंने बीरबल साहनी अभिनंदनग्रंथ में लिखा है, "वनस्पतिशास्त्र पर युरोपी भाषाओं में जो कृतियाँ है उनके उदाहरण प्रथमतः और मुख्यतः युरोपी वनस्पति के हैं, उनकी परिभाषाएँ युरोपी विचार की परंपरा के अनुसार नियत हुई हैं, और उनमें वैज्ञानिक

विचार का विकास टटोला जाता है तो युरोप के वनस्पतिविषयक विचार का ही। भारतीय भाषाओं में प्रामाणिक और स्वाभाविक वनस्पतिशास्त्र तैयार हो सके, इससे पहले भारतीय वनस्पतियों के विस्तृत और बारीक अध्ययन की, उस अध्ययन के परिणामों के संकलन की, तथा भारतीयों के पुराने वनस्पतिविषयक और उससे संबद्ध ज्ञान और विचार के ऐतिहासिक शृंखला में संकलन और मथन की आवश्यकता है।"

ठीक यही बात समूचे जीवशास्त्र (बायोलॉजी) पर लागू होती है। आयुर्वेद को लीजिए। हमारे आयुर्वेद ने अब तक जो पाश्चात्य आयुर्वेद से पछाड़ नहीं खाई उसका कारण केवल जनता का अंधविश्वास नहीं है। जहाँ तक शरीर को रचना और उसकी भीतरी कार्यप्रक्रियाओं का प्रश्न है, उस संबंध में यदि हमारा आयुर्वेद और आधुनिक विज्ञान दो विरोधी बातें कहते हैं तो दोनों ठीक नहीं हो सकतीं। उस अंश मे भारतीय आयुर्वेद को निरर्थक समझा जायगा। किंतु त्रिदोष-सिद्धांत जैसी अनेक स्थापनाएँ उसमे ऐसी हैं जो व्यवहार मे बड़ी उपयोगी सिद्ध होती हैं और जिन्हें आधुनिक विज्ञान स्पष्ट गलत नही कह सकता। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से उनकी ठीक ठीक व्याख्या के लिये बड़े परिश्रम और मनन की आवश्यकता है। दूसरे, जिस अंश मे भारतीय आयुर्वेद की स्थापनाएँ गलत सिद्ध हो भी चुकी हैं उस अंश में भी उसका ऐतिहासिक मूल्य बहुत ही ऊँचा है, और आज विज्ञान के अध्ययन मे विज्ञान के इतिहास पर बहुत बल दिया जाता है। ··· भारतीय भाषाओं में यदि हम नव्य आयुर्वेद का वाङ्मय उपस्थित करना चाहते हैं तो हमे प्राचीन आयुर्वेद की ऐतिहासिक तहबंदी सावधानी से करनी होगी, भारतीय ओषधियो के गुणों और प्रभावों के निर्णय के लिये अनेक परीक्षणालय स्थापित करने होंगे, उन परीक्षणालयों के परिणामों को प्रामाणिक रूप से दर्ज करने की परिपाटी चलानी होगी, और विदेशों की इस विषय की ज्ञान-प्रगति के साथ अपनी ज्ञान-प्रगति का बराबर सामंजस्य करना होगा।

× × ×

जीव जगत् को छोड़ अब हम जड़ जगत् की ओर चलें। भूगर्भशास्त्र पर यदि हमें किसी भारतीय भाषा में लिखना है तो भारत की मिट्टियों-चट्टानों के उदाहरणों को उनमे प्रथम स्थान देना होगा। उनके विषय मे काफी खोज हो चुकी है और अनेक अच्छी कृतियाँ अंग्रेजी में हैं। पर उनके अनुवाद भी हम किसी भारतीय भाषा में करना चाहें तो पहले अनेक प्रकार के पत्थरों और चट्टानों के

भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित नामों का संग्रह करना होगा। ग्रेनाइट, नीस, सोपस्टोन, कोबाल्ट आदि भारत के जिन प्रदेशों में पाए जाते हैं, वहाँ की जनता इनके नाम भी जानती है, जैसे तेलिया उरगा, गोरा पत्थर, सविता आदि। पर जनता में प्रचलित ये नाम कोशों में प्रायः नहीं पाए जाते, और इन नामों को खोजे और बटोरे बिना किसी भारतीय भाषा में भूगर्भशास्त्र पर अच्छा ग्रंथ नहीं लिखा जा सकता।

शुद्ध विज्ञान पर लिखना भी भारतीय परिस्थिति और इतिहास से बचकर नहीं हो सकता। विज्ञान और दर्शन का विचारक्षेत्र प्रायः एक ही है। दोनों में अंतर यह है कि विज्ञान में जहाँ केवल परखे सिद्धांतों का समावेश होता है, वहाँ दर्शन में तर्कना-मूलक विचार भी रहता है। दोनों मे बहुत कर समान परिभाषाएँ प्रयुक्त होती हैं। भारत मे दार्शनिक चिंतन काफी से अधिक हो चुका है। नए वैज्ञानिक चिंतन का उस पुराने चिंतन के साथ समन्वय किए बिना उसकी परिभाषाएँ ठीक से निश्चित नहीं हो पातीं। इसका एक अच्छा उदाहरण यह है कि अब तक जिन वैज्ञानिक परिभाषाओं को हिंदी मे चलाने का यत्न किया गया उनमें से सुधाकर द्विवेदी की निश्चित की हुई गणित की परिभाषाएँ सबसे अधिक परिपक्व सिद्ध हुईं, कारण कि वे भारत के पुराने और विश्व के नए ज्ञानचिंतन का पूरा सामंजस्य कर निश्चित की गई थीं। इस अंश मे तुलनात्मक अध्ययन की दिशा ब्रजेंद्रनाथ शील ने १६१५ में दिखाई थी।

यह जो विवेचना मैंने आपके सामने की है, इसके तत्त्व सन् १९१० से १९१६ तक काँगड़ी गुरुकुल में अच्छी तरह पहचान लिए गए थे।

× × ×

भारत की एक लिपि

सन् १९०५ के स्वदेशी आंदोलन के समय से यह बात स्पष्ट रूप से हमारे राष्ट्रीय विचारनेताओं के सामने है कि हमारे स्वप्नों के भारत और बृहत्तर भारत की एक ही लिपि देवनागरी हो सकती है। बंगाली विचारनेता शारदाचरण मित्र ने एक लिपिविस्तार-परिषद् की स्थापना की और 'देवनागर' नाम का पत्र निकाला। १९२३ में मुलतान मे पहला पंजाब प्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन होने पर राजा महेंद्रप्रताप ने मुझे एक पत्र में लिखा कि एशिया की सब भाषाओं को नागरी मे

लिखने की पद्धति बनानी चाहिए, उसके लिये यह आवश्यक है कि नागरी-प्रेमी कुछ लाख रुपए खर्च करके उन सब भाषाओं के वाङ्मय के चुने रत्नों को नागरी में सुसंपादित कर निकालें। महेंद्रप्रताप के उस पत्र से जो मेरे पास सुरक्षित है, पता चलता है कि वे उस समय भी यह देख रहे थे कि तुर्की के नेता अरबी लिपि को छोड़नेवाले हैं और ईरानी और अफगान भी उससे ऊब रहे हैं। भारतीय क्रांतिकारियों की दूरदृष्टि का यह नमूना है।

महात्मा गाँधी के मन में भी यह आकांक्षा रही कि भारत की एक लिपि देवनागरी हो जाय। यदि वे उर्दू को समान पद देने के चक्कर में न फँस जाते तो शायद इस दिशा में कुछ कर पाते। १९३७ में भारतीय साहित्य परिषद् के मद्रास अधिवेशन में इस विषय की चर्चा उठी तो च० राजगोपालाचारी ने कहा, विभिन्न प्रांतों के लोगों को नई लिपि सिखाना कितना कठिन होगा। गाँधी जी ने कहा, प्रांतों में केवल ७% आदमी शिक्षित हैं, जब ९३% को अक्षर-ज्ञान देना ही है तो क्यों न देवनागरी द्वारा दिया जाय। इससे यह समझना चाहिए कि यदि यह सुधार करना है तो इसे करने की पूरी योजना और तैयारी हमें शीघ्र से शीघ्र कर लेनी चाहिए, अन्यथा शिक्षा का व्यापक प्रसार हो जाने पर इसे करना कठिनतर होता जायगा।

महेंद्रप्रताप की योजना की ओर पग उठाते ही हमे एक और कार्य करना होगा। ब्राह्मी वर्णमाला संस्कृत के लिये बनी थी। आज जो भाषाएँ उसमें लिखी जाती हैं उनमे कई नए उच्चारण हैं, पर उनके चिह्न नहीं हैं। उदाहरण के लिये तेलुगु में ह्रस्व एकार है। मराठी, पश्तो, कश्मीरी, पर्वतिया, असमिया में स से मिलता हुआ च है। स्वयं हिंदी मे हम संस्कृत ऐ (अइ) और हिंदी ऐ (अय) का अंतर नहीं करते, और न अकार-सहित व्यंजन और अकार-रहित व्यंजन का। इन अंशों में हमारी लिपियाँ ध्वनि-सूचक और विज्ञान-सम्मत नहीं रहीं। यदि हम भारत या एशिया की सब भाषाओं की ध्वनियों का बारीकी से विश्लेषण किए बिना नागरी में उन भाषाओं को लिखने मे प्रवृत्त होंगे तो कुछ ही दिन में घपला मच जायगा। हमारे देश में सिद्धेश्वर वर्मा, सुनीतिकुमार चटर्जी और विश्वबंधु शास्त्री जैसे ध्वनिविज्ञान के पंडित हैं जो प्रामाणिकता से यह विश्लेषण कर सकते हैं। इस सम्मेलन के ग्वालियर अधिवेशन (१९३३) में मेरे प्रस्ताव पर यह कार्य करना स्वीकृत हुआ था, पर सम्मेलन ने तब इसका ठीक महत्त्व न समझा। आज

यदि हमारे मन में भारत और बृहत्तर भारत में एक ही लिपि देखने की आकांक्षा है तो अब एक दिन भी इस कार्य को न टालना चाहिए।

× × ×

तब करना क्या है ?

भारती की सेवा हमें केवल विनोद या गौरव के लिये नहीं करनी है, प्रत्युत उसके बिना तो आज हम जीवन-संघर्ष में भी सफल नहीं हो सकते। काव्य भले ही विनोद के लिये हो, शास्त्र तो आज हमारे जीते रहने के लिये आवश्यक है। हम राष्ट्र को जाग्रत् और शक्त बनाने की बातें भी कर लेते हैं, उसके उद्धार की बड़ी बड़ी योजनाएँ भी बनाते हैं, पर विदेशों की भाषाओं में पड़ा हुआ ज्ञान हमारी जनता को जाग्रत् या शक्त नहीं कर सकता।

हमारे पुरुत्थान के ८८-८७ वर्षों में और इस सम्मेलन द्वारा लक्ष्य की घोषणा के बाद के ४० वर्षों मे जो काम हम नहीं कर सके, उसे अब हम १५ वर्षों मे कर लेना चाहते हैं। सुविचारित योजना के बिना वह १५० वर्षों मे भी नहीं हो सकता। किस प्रकार के आयोजन से वह हो सकता है, सो भी मैंने स्पष्ट करने का यत्न किया।...हमारी लिपि संबंधी आकांक्षाएँ भी अध्ययन के आयोजन से ही पूरी हो सकती हैं।

यह अध्ययन सहोद्योगी पद्धति पर होगा जिसमे अनेक कर्मी विभिन्न मार्गों से, किंतु एक ही लक्ष्य की ओर चलेंगे। कम से कम २००-३०० श्रमियों को इसमें अपना जीवन आरंभ से ही लगाना होगा। यह कोई कठिन कार्य तो नहीं है, यदि देश इसे करना चाहे। जिन्हें हम कल तक गुलामखाने कहते थे, पर आज जिनसे हम कल की सब बातें भूलकर चिपट गए है, वैसी युनिवर्सिटी कहलानेवाली बीस के लगभग संस्थाएँ देश में हैं, और प्रत्येक मे प्रायः उतने कर्मी काम करते हैं। जिस अंग्रेजी से हमें छुट्टी लेनी है उसमें बोलनेवाली बीस संस्थाएँ यदि हम चला सकते हैं, तब जिस हिंदी को हमे अभिषिक्त करना है उसमे काम करनेवाली वैसी एक संस्था भी नहीं चला सकते ? यदि कोई रुकावट है तो हमारा शासन चलानेवाले नेताओं की इच्छा की।

× × ×

पर यदि आज हम सरकारी और अर्धसरकारी क्षेत्र में कुछ नहीं कर पाते तो उसके बाहर ही क्यों न करे ? क्यों न पुरानी राष्ट्रीय संस्थाएँ ही मिलकर इस ज्ञान-प्रतिष्ठान की नींव रखें और क्यो न हमारा यह सम्मेलन ही उसमें पहल करे ?

इन संस्थाओं के पास साधन अवश्य कम हैं, पर अनेक संस्थाओं के सहयोग से आरंभ करने योग्य साधन मिल ही सकते हैं। साहित्य के प्रोत्साहन के लिये अनेक छोटी-बड़ी संस्थाएँ और दानी सज्जन कुछ न कुछ यत्न करते ही रहते हैं। आज निरे प्रोत्साहन का दिन गया, आयोजन का दिन आया है, और वे सब संस्थाएँ और व्यक्ति अपने छोटे-मोटे साधनों को भी इकट्ठा कर दें तो उनसे कुछ कहने योग्य रचना हो सके।

आज तक जो हम केवल प्रोत्साहन से अपने वाङ्मय-भंडार की पूर्ति करना चाहते रहे हैं उसमें हम बहुत सफल नहीं हुए और हमने अनेक सुनहरे अवसर हाथ से जाने दिए हैं। ओझा, हीरालाल, जायसवाल जैसे विद्वानों में से एक एक के सहारे एक एक सच्चा ज्ञानपीठ खड़ा हो सकता था, उनमें से एक एक स्रोत से एक एक जीवनदायिनी धारा चल सकती थी, यदि हमने उनका मूल्य पहचाना होता।

× × ×

आज हम पंद्रह या चौदह वर्ष की योजना की बात कर रहे हैं। क्या मैं अपनी चौदह वर्ष पुरानी प्रतिज्ञा को दोहराऊँ? वह प्रतिज्ञा यों है—"मेरा तो यह विश्वास है कि आगामी पंद्रह बरस के भीतर हिंदी साहित्य के क्षेत्र में हम (स्वच्छ चिंतन की) उस धारा को पूरे प्रवाह से बहता देख सकते हैं यदि आज (कुछ) दृढ़व्रती विद्यार्थी इसी कार्य को अपने जीवन की एकमात्र साध बनाकर इसमें जुट जायँ। राष्ट्र को उस टुकड़ी के लिये रसद-बारूद और हथियारों का प्रबंध करना होगा।...क्या हम. .सरस्वती का यह सच्चा मंदिर...खड़ा नहीं कर सकते?...यदि आज...आप इस मंदिर की स्थापना का संकल्प कर लें, तो विश्वास मानिए, आज से पंद्रह बरस के भीतर...आप अपने हिंदी के क्षेत्र में स्वच्छ और सबल...चिंतन की धारा बहती देख सकेंगे, और भारतीय राष्ट्र अपने विस्मृत आत्मा को फिर पहचानने लगेगा।"

हिंदी साहित्य सम्मेलन में स्वीकृत प्रस्ताव

सम्मेलन के अड़तीसवें अधिवेशन (कोटा) में सब ग्यारह प्रस्ताव स्वीकृत हुए जिनमें पहले तीन शोक प्रस्ताव हैं, सातवें में भारत सरकार से सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशनों के अवसर पर रेल भाड़े में सुविधा की माँग की गई है, दसवें में हैदराबाद अधिवेशन में स्वीकृत चौदहवें प्रस्ताव को समाप्त कर परीक्षाओं का प्रबंध

वर्तमान नियमावली के अनुसार करने का निश्चय किया गया है और ग्यारहवें में नियमावली तैयार करने का आदेश दिया है। शेष प्रस्ताव संख्या-क्रम से इस प्रकार हैं—

४—सम्मेलन का मत है कि अंग्रेजी राज्य-काल में स्थापित हुए विश्वविद्यालयों की शिक्षा-पद्धति राष्ट्रीयता तथा संस्कृति की भावना को उत्पन्न करने में असमर्थ है। केवल भाषा-माध्यम बदल देने से उसका राष्ट्रीयकरण नहीं होगा। अतः यह सम्मेलन भारतीय विश्वविद्यालयो के संचालकों से अनुरोध करता है कि वे भारतीय भाषाओं के माध्यम से ऐसी शिक्षापद्धति और योजना अपनाएँ, जिससे भावी स्नातकों में राष्ट्र-सेवा, भारतीय संस्कृति और नैतिकता तथा समाज-संरक्षण की भावना प्रबुद्ध हो।

५—केंद्रीय शिक्षा सचिवालय द्वारा हिंदी पारिभाषिक शब्दावली निर्माण के लिये जो आयोजन किया गया है, उसका सिद्धांततः तो यह सम्मेलन स्वागत करता है, परंतु इस कार्य के लिये जो समिति बनाई गई है, उसका रूप इस सम्मेलन की सम्मति में असंतोषजनक और अनुपयुक्त है। उस समिति में भारतीय परिभाषाएँ बनानेवालों में एक भी हिंदी का विद्वान् या ऐसा व्यक्ति नहीं है, जिसे हिंदी में वैज्ञानिक विषयों पर लिखने का अनुभव है। साथ ही भारतीय संघ के शिक्षा मंत्री ने जो आदेश समिति को दिया है, वह भी दोषयुक्त तथा संविधान की भावनाओं के प्रतिकूल है। हिंदी पारिभाषिक शब्दावली 'लातीनी' या अंग्रेजी पर आश्रित न होकर स्वभावतः देशी अर्थात् संस्कृत से उद्भूत होगी। शिक्षामंत्री के आदेश में संविधान की भावना का प्रत्यक्ष विरोध सम्मेलन की दृष्टि में नीतिविरुद्ध तथा निराशाजनक है। यह सम्मेलन माँग करता है कि वर्तमान समिति के स्थान पर ऐसी समिति नियुक्त की जाय, जिसमें संस्कृत तथा भारत की प्रादेशिक भाषाओं के विद्वान् रहें और हिंदी के एक से अधिक विशेषज्ञ रहें, जो हिंदी साहित्यिक-जगत् को मान्य हों।

६—सम्मेलन का यह अधिवेशन अनुभव करता है कि साहित्य-निर्माण कार्य के लिये हिंदी साहित्य-निर्माण कार्य में प्रसिद्ध संस्था नागरीप्रचारिणी सभा काशी का सहयोग प्राप्त किया जाय। अतः यह अधिवेशन निश्चय करता है कि सम्मेलन नागरीप्रचारिणी सभा को साहित्य-निर्माण कार्य में अपने सहयोग के लिये आमंत्रित करे और आमंत्रण स्वीकार होने पर स्थायी समिति तदनुसार व्यवस्था करे।

७—सम्मेलन का यह अधिवेशन इस बात पर असंतोष प्रकट करता है कि यद्यपि भारत सरकार ने हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में ग्रहण कर लिया है तथापि उसने इस ओर ऐसी प्रगति नहीं दिखलाई है कि पंद्रह वर्ष के बाद भी वह उस पद पर प्रतिष्ठित हो। सम्मेलन का यह अनुरोध है कि भारत सरकार निम्नलिखित कार्यों को अविलंब ही करे :—

(क) सभी मंत्रणालयों एवं दूतावासों के पत्रों पर नागरी लिपि में भी उनके नाम अंकित हों।

(ख) मंत्रियों एवं राज्यपालों और राज्यदूतों के कमरों की तख्तियों और नाम के कार्डों पर नागरी लिपि का भी व्यवहार किया जाय।

— (ग) पासपोर्टों पर नागरी लिपि का भी व्यवहार किया जाय।

(घ) रिजर्व या इंपीरियल तथा सरकार द्वारा सम्मानित अन्य बंकों और एकाउंटेंट आफिस द्वारा नागरी में हस्ताक्षर एवं प्रमाणपत्र आदि स्वीकृत किए जायँ।

(ङ) रेलवे, डाक, रेडियो आदि विभाग के फार्म हिंदी मे भी छपवाए जायँ।

८—राष्ट्रभाषा हिंदी के माध्यम से देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में उच्चतम कक्षाओं तक की शिक्षा एवं परीक्षा की समुचित व्यवस्था के उद्देश्य से राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद की प्रेरणा से हिंदी में विभिन्न विषयों के प्रामाणिक एवं उपयुक्त ग्रंथ प्रस्तुत और प्रकाशित करने के लिये पटना विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में आयोजित विभिन्न विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियो के सम्मेलन ने जो सार्वदेशिक योजना बनाई है उसके संबंध में यह सम्मेलन उपर्युक्त योजना के संचालकों से अनुरोध करता है कि वे अपने उद्देश्य की सम्यक् सिद्धि के लिये विश्वविद्यालयों के अध्यापकों के साथ साथ देश के विभिन्न भागों मे कार्य करनेवाले अन्यान्य विद्वानों तथा साहित्यकारों का सक्रिय सहयोग प्राप्त करें और इस कार्य मे आवश्यकतानुसार हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, राज्य-सम्मेलनों तथा देश की अन्य सुप्रतिष्ठित हिंदी संस्थाओं की सहायता का भी उपयोग करें।

निर्देश

हिंदी

आर्यों का आदि देश कहाँ था ?—हेमचंद्र जोशी; "नयासमाज", दिसंबर १९५० [आर्य कास्पियन सागर (जर्मन कास्पिशेस मेर, सं० काश्यप मेरु) के तट

पर रहते थे। सप्तसिंधु आमू और सर नदियों के पास था। काश्मीर आने पर अपने मूल स्थान के नाम पर आर्यों ने इसका नाम भी काश्यपमेरु (काश्मीर) रखा।]

एक प्राचीन नगर की सैर—पू० सोमसुंदरम्; "विशालभारत", अक्टूबर १९५० [प्राचीन तमिल साहित्य के पंचमहाकाव्यों में शिलप्पधिकारम् का प्रथम स्थान है। समय तीसरी या चौथी शती, रचयिता चेर राजवंश के महामुनि इलंगो। इसमें चोल की राजधानी पुहार के वर्णन से तत्कालीन समृद्ध भारतीय संस्कृति का पता लगता है।]

एशिया में भारतीय संस्कृति का प्रसार—हरिदत्त वेदालंकार; नयासमाज, अक्टूबर १९५० [श्रीलंका, मध्यएशिया, चीन, कोरिया, जापान, तिब्बत, दक्षिणपूर्व एशिया, चंपा, सुवर्णद्वीप, मलाया, बोर्नियो, बालिद्वीप में भारतीय संस्कृति के प्रसार का संक्षिप्त परिचय।]

चंद्रगुप्त और चाणक्य—ज्योतिप्रसाद जैन; "जैनसिद्धांत-भास्कर" भाग १७ अंक १ [प्राचीन जैन अनुश्रुति और जैन साहित्य के आधार पर दोनों का इतिहास। चाणक्य के पिता चणक जैन श्रावक, स्त्री यशोमती श्यामासुंदरी। चंद्रगुप्त विंदुसार को राज्य देकर अपने धर्मगुरु जैनाचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण गया और चंद्रगिरि पर जैन मुनि के रूप में तप करके मरा।]

छप्पय छंद (एक समीक्षा)—विपिनविहारी त्रिवेदी; "विशालभारत", अक्टूबर १९५० [दसवीं शती के पूर्व के ग्रंथों में अप्राप्त। दसवीं के प्राकृत ग्रंथ 'स्वयंभूछंदः' में लक्षण दिया है। इसके बाद भिन्न-भिन्न ग्रंथों में इसका वर्णन। नागरीप्रचारिणी सभा की एक खंडित हस्तलिखित पुस्तक में इस छंद के ७१ भेदों के उदाहरण हैं।]

जैन ग्रंथों में क्षेत्रमिति—राजेश्वरीदत्त मिश्र; जैनसिद्धांत-भास्कर, भाग १७ अंक १ [षट्खंडागम में क्षेत्रानुगम भाग है और केवल गणित के भी ग्रंथ हैं; यथा महावीराचार्य का गणितसार संग्रह और उमास्वाति का क्षेत्रसमास। लेख में त्रिभुज, चतुर्भुज और वृत्तगणित का वर्णन करते हुए यूनानी गणित से मेल और अंतर दिखाया गया है।]

जोगीड़ा गान का ऐतिहासिक महत्त्व—श्याम परमार; "आजकल" जुलाई १९५० [जोगीड़ा में गालियाँ ही नहीं हैं, जैसा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा

है। यह जोगियों का चिकारे पर का गान है। उज्जैन के जोगीड़ों का उदाहरण देकर बताया गया है कि यह गान काव्यात्मक भावों से शून्य नहीं है।]

दत्तात्रेय संप्रदाय का दार्शनिक मतवाद—गोपीनाथ कविराज, "कल्याण", सितंबर १६५० [पुराणादि में दत्तात्रेय के उल्लेखों का निर्देश करते हुए इनका इतिहास तथा इनकी रचनाओं और दर्शन का विवरण दिया गया है।]

दर्शनशास्त्र का स्वरूप – राजेंद्रप्रसाद; "साहित्य" भाग १ अंक १ [स्वरूप, परिभाषा, व्यावहारिकता, विशेषता, पश्चिम और पूर्व में भेद का विवेचन।]

द्विपद नाम पद्धति—लोकेशचंद्र; "विशालभारत", अक्टूबर १९५० [पारिभाषिक शब्दों का लैटिन से हिंदी में अनुवाद करने में, यदि शब्द विशेष्य विशेषण संयुक्त हों तो, लैटिन की भाँति विशेष्य के बाद विशेषण नहीं, बल्कि विशेषण तब विशेष्य रखना चाहिए, जैसा अंग्रेजी, जापानी, तमिल, मलयालम्, सिंहली, बंगला, गुजराती आदि मे होता है।]

नागरकवृत्त—मोतीचंद्र; "नयासमाज", अक्टूबर १६५० [कला और विलासपूर्ण जीवन। विलासिता बढ़ने के साथ साथ ६४ कलाओं की उन्नति। नागर संस्कृति की गुप्तकाल मे उन्नति। वात्स्यायन मे पूरा विवरण।]

नाद और संगीत—वाराणसि राममूर्ति रेणु, "नई धारा" अक्टूबर १६५० [कर्नाटकी संगीत विद्या का सामान्य तथा उत्तरीय से तुलनात्मक परिचय।]

पाणिनि—वासुदेवशरण अग्रवाल; "नयासमाज", अक्टूबर १६५० [पाणिनि का प्रारंभिक जीवन और शास्त्रनिर्माण, उनके शास्त्र का महत्त्व, उसमें लोकजीवन की झाँकी तथा राष्ट्रीय एकता का सूत्र।]

पुंड्रवर्धन और उसकी राजधानी—मथुराप्रसाद दीक्षित; "साहित्य", भाग १ अंक १ [पुंड्रजनपद (पूर्णिया, बिहार) की राजधानी सिकलीगढ़ पूर्णिया शहर से २२ मील पश्चिम, बनमनखी स्टेशन के पास। प्राचीन गढ़ का वर्णन।]

प्राचीन भारतीय साहित्य में पुरातन इराक की राजधानियाँ—अमृत पंड्या, "विशालभारत", जून १६५० [हरिवंशपुराणोल्लिखित वाणासुर की राजधानी शोणितपुर या रुधिरपुर इराक का 'निनेवा' है। वरुणपुरी 'सुषा' (मत्स्य०) इराक का 'सुसा' है। वाणासुर संभवतः असीरियन राजवंशावली का अशुर-बानी-पाल है।]

प्राचीन मिसरी संस्कृत—विश्वंभरनाथ पांडे ; "विश्ववाणी" नवंबर १६५० [मिश्रदेशीय संस्कृति का विवरण ।]

बीसलदेव रासो की नवीन प्राप्त प्रतियाँ—अगरचंद नाहटा ; "राजस्थान भारती", भाग ३ अंक १ [ग्यारह प्रतियों का परिचय, जिनमें सबसे पुरानी फलौधी की सं० १६३३ की है ।]

मनु और याज्ञवल्क्य में शूद्रों के राजनीतिक तथा वैधानिक अधिकार—रामशरण शर्मा ; "साहित्य" भाग १ अंक १ [दोनों स्मृतियों के निर्देशों द्वारा सिद्ध किया गया है कि शूद्रों की स्थिति अत्यंत हेय थी ।]

यहूदी धर्म और सामी संस्कृति—"विश्ववाणी", सितंबर १९५० [विवरण]

राजस्थान का एक लोकप्रिय संगीतकार 'चंद्रसखी'—मनोहर शर्मा ; "राजस्थानभारती", भाग ३ अंक १ [व्रजभाषा के इस कवि के निवास आदि का पता नहीं, कहते हैं यह सखी संप्रदाय के किसी कवि का उपनाम था । इनकी कृष्ण संबंधी रचनाएँ बड़ी सरस और राजस्थान के नर-नारियों में खूब लोकप्रिय हैं ।]

राजस्थान के नगर एवं ग्राम (बारहवीं-तेरहवीं शती के लगभग)-दशरथ शर्मा ; वही । [ऐतिहासिक विवरण ।]

राठोर वीर दुर्गादास का एक पत्र—विश्वेश्वर नाथ रेउ ; वही । [मारवाड़ के गाँव की आई माता के दीवान राजसिंह के नाम पत्र, जिससे प्रकट होता है कि औरंगजेब के पुत्र मुहम्मद अकबर ने दूसरी बार दिल्ली के राज्य के लिये अपने भाग्य की परीक्षा की थी ।]

रामकाव्य का पुनर्मूल्यांकन—केसरीकुमार सिंह ; "साहित्य", भाग १ अंक १ ['साकेत' की अन्य रामकाव्यों से विशेषताएँ ।]

सदयवत्स-सावलिंगा की प्रेमकथा—अगरचंद नाहटा ; "राजस्थानभारती" भाग ३ अंक १ [बहुत प्राचीन और प्रचलित कथा । सं० १४०० के लगभग अब्दुर्रहमान कृत 'संदेशरासक" मे इसका उल्लेख । गुजरात और राजस्थान में इसकी बहुत सी प्रतियाँ और विविध रूपांतर हैं । संस्कृत में 'सदयवत्सचरित्रम्' प्रकाशित हो चुका है ।]

सम्राट् संप्रति और उसकी कृतियाँ—नेमिचंद शास्त्री ; जैन-सिद्धांत-भास्कर

भाग १७ अंक १ [अशोक का पुत्र कुणाल, उसका पुत्र संप्रति। प्रियदर्शी संप्रति की कृतियाँ, शिलालेख और सिंहमूर्ति वाले स्तंभ, भ्रमवश अशोक की माने जाते हैं।]

सोवियत रूस और भारत का सांस्कृतिक संबंध—महादेव साहा ; "संगम", जून १९५० [संबंध बहुत पुराना है। ई० १४६६ में ही अफनासियस निकितन नामक रूसी स्थल मार्ग से विजयनगर आया था। १६२५ में कास्पियन पर अस्त्राखान में हिंदू धर्मशाला बनी। १६९५ में प्रथम पीटर का दूत सूरत आया। १७७५ में एक रूसी कलकत्ते आया और २५ वर्ष रहा। १८०१ में हिंदुस्तानी का व्याकरण लिखा। १८०५ में रूस में पहली बार नागरी टाइप ढले।]

अंग्रेजी

उदयन्स क्रिटिसिज़्म ऑव सांख्य—हेमचंद्र जोशी ; जर्नल ऑव ओरियंटल रिसर्च, भाग १८ अंक १ [उदयनाचार्य द्वारा न्यायकुसुमांजलि में सांख्य मत का खंडन।]

ए नोट ऑन तुमेन इंस्क्रप्शन—बहादुरचंद्र छाबड़ा ; वही, १७।४ [एपिग्राफिया इंडिका, २६, पृ० ११५–१८ में एम० बी० गर्दे द्वारा संपादित लेख के प्रथम पद्य में समुद्रगुप्त का उल्लेख न होकर विष्णु के वामन रूप की स्तुति है। इसी प्रकार संपादक से अन्य मतभेद।]

किंग चंद्र ऑव मेहरौली आयरन पिलर—आर० सी० कर ; इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, २६।३ [उक्त स्तंभ के लेख का राजा चंद्र, द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ही था।]

गॉड पुरुषोत्तम ऐट पुरी—दिनेशचंद्र सरकार ; ज० ओ० रि०, १७।४ [एम० ए० चक्रवर्ती के अनुसार (जे० ए० एस० बी० ६७, १८९८ ई०, पृ० ३२८–३१) पुरी का पुरुषोत्तम मंदिर अनंतवर्मन चोड़गंग ने १०८५–९० में बनवाया होगा। पर उड़िया इतिहास माँदलापाँजी के अनुसार उसे अनंगभीम तृतीय ने बनवाया। हाल के ताम्रपत्र से विदित होता है कि इसने कटक में पुरुषोत्तम जगन्नाथ का मंदिर बनवाया था।]

ग्लीनिंग्स फ्रॉम द खरतरगच्छपट्टावली—दशरथ शर्मा; इं० हि० क्वा० २६।३ [खरतरशाखा के जैन आचार्यों का इतिहास, वि० १२११ से १३९३ तक। राजपूताने के चौहानों और दिल्ली के सुलतानों की धार्मिक नीति पर प्रकाश।]

ज्यूरिडिकल स्टडीज इन एंशंट इंडियन लॉ—लुडविक स्टर्नबाश ; एनल्स ऑव द भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट ३०।१-२ [प्राचीन भारत में चिकित्सकों को 'प्रैक्टिस' करने के पहले राजाज्ञा लेनी पड़ती थी। चिकित्सा में लापरवाही करने पर दंड का विधान था। ग्रंथों से प्रमाण देकर विवेचन।]

द कंट्रिब्यूशन ऑव दि अथर्ववेद टु दि उपनिषदिक थॉट—एन० जे० शेंदे ; [ब्रह्म, जीवन, मृत्यु, स्वर्ग, यज्ञ आदि पर अथर्ववेद में विचार। ऋग्वेद में जगत् के कर्ता और कारण पर दार्शनिक विचार हैं, परंतु उपनिषदों में निरूपित ब्रह्म और आत्मा का मूल अथर्ववेद में है।]

द चाइनीज नेम्स ऑव सिलोन—एस० मेहदीहसन : वही। [लंका के सीलोन नाम का व्युत्पत्तिक इतिहास।]

द चीफ वैराइटीज ऑव ध्वनि—के० कृष्णमूर्ति ; क्वार्टर्ली जर्नल ऑव द मीथिक सोसायटी, ३९।३ [आनंदवर्धन कृत ध्वनि के वर्गीकरण (भेदों) का मूल सिद्धांत और उनके उदाहरण।]

द नेम इंद्र—एन इटिमॉलॉजिकल इन्वेस्टिगेशन—वी०एम० आपटे; ज० बां० यु० १९।२ ['इंद्र' की अनेक व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं, पर ऋग्वेद में प्रयुक्त 'इंध' धातु से ही मानना ठीक है। इंध = चमकना, प्रज्वलित होना। 'इंद्र' वर्षा का नहीं, प्रकाश और उष्णता का देवता है। ऋग्वेद में सर्वत्र यही अर्थ है।]

द लिजेंड ऑव पुरुरवा ऐंड उर्वशी—इंदिरा नलिन ; वही। पुरूरवा-उर्वशी की सुंदर कथा का प्राचीन रूप दोनों के वार्तालाप के रूप में ऋग्वेद १०।९५ में है। अनंतर शतपथ ब्राह्मण से लेकर विक्रमोर्वशी तक हरिवंश, महाभारत, विष्णु, पद्म, भागवत और मत्स्य पुराणों तथा कथासरित्सागर में अनेक रूपांतर।]

द व्यूज ऑव जैमिनि ऐंड शबर ऑन डिफरंट क्लासेज ऑव वर्ड्स—जी० वी० देवस्थली ; ए० भं० ओ० रि० इं०, ३०।१-२ [मुख्यतः चार प्रकार के शब्द - नाम, सर्वनाम, विशेषण और आख्यात या कर्मशब्द ; इनका विवेचन।]

दि अकेमेनीड्स इन इंडिया—सुधाकर चट्टोपाध्याय ; इं० हि० क्वा०, २६।२ [भारत के उत्तर-पश्चिम प्रदेश पर ई० पू० ५०० से ३३० तक अखामनी शासन। देश के इतिहास पर इसका प्रभाव, भारत का बाहरी संसार से परिचय, बौद्धिक कार्यों का विस्तार और रूढ़ियों का उच्छेद। खरोष्ठी लिपि, व्यापारिक उन्नति, मगों का भारत में बसना, कलाओं का आदान-प्रदान इन्हीं के शासन की देन।]

देवानांप्रिय—दशरथ शर्मा, इं० हि० क्वा० २६।२ [ईसाई सन् के पहले या बाद में कभी 'देवानांप्रिय' केवल शासकों की उपाधि नहीं रही। यह बहुत आदरास्पद भी नहीं, परंतु इसका अर्थ 'मूर्ख' नहीं, 'देवों का प्रिय' ही है।]

नासिरुद्दीन खुसरूशाह—श्रीराम शर्मा; इं० हि० क्वा० २६।१; [यह गुजराती हिंदू संगी (परवरी) था जो अलाउद्दीन खिलजी के समय में दिल्ली लाया गया। मुबारक खिलजी के बाद उक्त नाम से सुलतान हुआ। उसके शासन, चरित्र आदि का वर्णन।]

न्यू लाइट ऑन 'जयति-जयते' कंट्रोवर्सी—वी० एन० कृष्णमूर्ति शर्मा, ब्रह्मविद्या, भाग १४ अंक २ [वैदिक साहित्य में 'जयते' का प्रयोग ९ बार है जिसमें पाँच प्रयोग संदिग्ध है और 'जयति' का ६४५ बार है। अत: 'जयते' ठीक।

प्रभाकर्स थियरी ऑव एरर—जटिलकुमार मुकर्जी; इं० हि० क्वा०, २६। ३ [प्राभाकर लोग भ्रम नहीं मानते। शुक्ति में रजत का भास या मिठाई मे पित्त का स्वाद भ्रम नहीं, पूर्णतः सत्य। यह मानसिक या इंद्रियगत विकार के कारण दो प्रकार के ज्ञान मे भेद का अज्ञान है।]

मंकीज़ ऐंड सर्पेंट्स इन दि एपिक्स—टी० आर० वेंकटरमण शास्त्री; ज० ओ० रि०, भाग १७ अंक ४ [रामायण के कपि तथा रामायण और महाभारत के नाग, उरग, पन्नग पशु या कल्पना की वस्तु नहीं, बल्कि मनुष्य थे।]

मिंग्लिंग ऑव इस्लामिक ऐंड इंडिजिनस ट्रेडिशंस इन इंडियन म्यूजिक—कौमुदी; इं० हि० क्वा०, २६।२ [भारतीय संगीत के विकास, समृद्धि और प्रचार में मुसलमानों ने बहुत योग दिया; आज भी यह कला प्रधानतः मुसलमानों के हाथ मे है।]

वेदिक गॉड्स, रुद्र-काली—हीरालाल अमृतलाल शाह; ए० भं० ओ० रि० इं०, ३०।२ [लेख के इस पाँचवें खंड मे रुद्र और काली, इन वैदिक देवताओं के रूप-विकास का विवेचन है।]

वेदिक स्टडीज इन द वेस्ट—ई० जे० टॉमस; इं० हि० क्वा०, २६।२ [पिछले सौ वर्षों में यूरोपीय विद्वानों ने अनेक दृष्टियों से वैदिक साहित्य का अध्ययन किया, उसका विवेचन। अभी तक के अध्ययन का फल ऐसा नहीं, जिसे दृढ़ आधार मानकर चला जाय। पद पद पर प्रत्येक बात की पूरी छानबीन की आवश्यकता।]

हूणाज, यवनाज ऐंड कांबोजाज—एस० बी० चौधरी; इं० हि० क्वा० २६।२ [अनेक साक्ष्यों के आधार पर इन जातियों का ऐतिहासिक परिचय।]

समीक्षा

तपोभूमि—लेखक श्री रामगोपाल मिश्र , प्रकाशक हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग , सं० २००७ ; आकार ८×६, पृष्ठ संख्या लगभग ४५० , मूल्य १०)

ग्रंथकार ने ही इस ग्रंथ का 'प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल' नाम दिया है। यह प्राचीन भारत के महत्त्वशाली नगरों का, विशेषत. धार्मिक दृष्टि से गौरवपूर्ण स्थानों का, अकारादि क्रम से निबद्ध एक सुंदर कोश है। उन नगरों से संबद्ध प्राचीन इतिहास तथा तत्संबद्ध महापुरुषो का भी सुंदर वर्णन है। लेखक ने इस ग्रंथ में विशेष परिश्रमपूर्वक पुराणों में उपलब्ध सामग्री का उचित उपयोग कर प्राचीन इतिहास निबद्ध किया है। साथ ही वर्तमान दशा का भी वर्णन कर इसे और सामयिक तथा लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया है।

'सिते हि जायेत शिते सुलक्ष्यता'—सफेद कपड़े पर काला धब्बा झट मालूम पड़ता है। विषय की विशालता तथा विस्तार के कारण, सावधानी रखने पर भी अनेक त्रुटियाँ इस रोचक ग्रंथ मे आ गई है, जिनका निराकरण नितांत आवश्यक है। लेखक ने मूल ग्रंथों को स्वयं देखने तथा छानबीन करने का उद्योग कम किया है, अन्यथा बहुत सी मोटी भूलो को इसमें देखने का हमे अवसर न मिलता। शाक्य मुनि के गुरु का नाम आराड कलाम अवश्य था, परंतु वे वर्तमान आरा (शाहाबाद, बिहार) के निवासी थे (पृ० २७), इसमे कोई प्रमाण नहीं। पृष्ठ १६६ पर जनकपुर जाते समय रामचंद्र तथा लक्ष्मण का पटना के पास गंगा पार होने की बात लिखी है, परंतु यह बात इतिहास-विरुद्ध है। वाल्मीकि रामायण के समय पाटलिपुत्र की स्थापना नहीं हुई थी, राम ने राजगृह के पास गंगा को पार किया था। वल्लभाचार्य का जन्मस्थान चंपारण्य (बिहार) मे नहीं, मध्यप्रदेश में था (पृष्ठ १८०)। पृष्ठ ६७ पर 'काञ्ची' का उल्लेख महाभारत में 'काञ्जीवरम्' के नाम से माना गया है। लेखक को पता नहीं कि 'काञ्जीवरम्', 'काञ्चीपुरम्' का अंग्रेजों के समय का विकृत अभिधान है, महाभारत मे इसकी सत्ता नितांत संदिग्ध है। सं० ७२४ पर 'त्रियुगी नारायण' का सुंदर वर्णन है, परंतु इस नाम

के 'त्रियुगी' पद का स्वारस्य नहीं बतलाया गया है। इसके पास ही 'शाकंभरी देवी' के विषय में नाना पुराणों की सामग्री संकलित है, परंतु सप्तशती के प्रधान निर्देश की चर्चा नहीं; न वर्तमान समय में सहारनपुर जिले में स्थित इस स्थान के ठौर ठिकाने की ही बात कही है। पृष्ठ ३७० पर संबलपुर की वास्तव स्थिति गोबी रेगिस्तान में बिना किसी प्रमाण के ही मान ली गई है। इस नगर का निर्देश कल्कि भगवान् की जन्मभूमि के रूप में पुराणों में पाया जाता है। यदि सचमुच यह नगर गोबी की विकट मरुभूमि में वर्तमान हो, तो यह बड़े पते की बात सिद्ध होगी। पृष्ठ ३६ पर मीमांसक कुमारिल भट्ट को 'ज्योतिषाचार्य' बतलाना भारी भूल है। पृष्ठ २८६ पर कृष्णमूर्ति का लंबा वर्णन अधिक तथा अनावश्यक है।

लेखक ने पश्चिमी विद्वानों के द्वारा भी असिद्ध बातों पर विशेष आस्था दिखलाई है। उसे पता नहीं कि कोई भी विद्वान् आज वाल्मीकि रामायण को महाभारत से अर्वाचीन रचना नहीं मानता (पृष्ठ ३७)। रामायण भाषा तथा भाव, आचार तथा विचार, उभय दृष्टियों से प्राचीनतर प्रबंध है, इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं।[1] इतिहास तथा पुराण की विविध सामग्री से सज्जित इस पुस्तक में त्रुटियों का होना अनिवार्य है, परंतु ऊपर निर्दिष्ट अशुद्धियों के समान अन्य त्रुटियों का बिना निराकरण किए ग्रंथ की प्रामाणिकता में बाधा पहुँचती है। आशा है, इनका मार्जन अगले संस्करण में अवश्य किया जायगा। ऐसे उपादेय तथा सामयिक ग्रंथ द्वारा हिंदी की एक विशेष कमी पूरी करने के निमित्त लेखक तथा प्रकाशक हमारे धन्यवाद के भाजन हैं।

ब्रह्मविद्या—लेखक स्वामी कृष्णानंद सरस्वती बी० ए०, बी० टी०; प्रकाशक विश्वेश्वरानंद मुद्रण एवं प्रकाशन मंडल, साधु आश्रम, होशियारपुर (पंजाब), पृष्ठ ४६ + २५०, आकार ६½ × १०, मूल्य ६)

यह हर्ष की बात है कि इधर राष्ट्रभाषा हिंदी में वैदिक सिद्धांत तथा अध्यात्म शास्त्र के तथ्यों के प्रकाशन की ओर अनेक संस्थाओं का ध्यान आकृष्ट हुआ है। ऐसी संस्थाओं में विश्वेश्वरानंद-प्रकाशन-मंडल अन्यतम है। अब तक यह वैदिक ग्रंथों की खोज तथा प्रकाशन का कार्य करता रहा है। इधर इसने हिंदी के द्वारा जनता की सेवा करने का श्लाघनीय कार्य आरंभ किया है और इस कार्य का श्री गणेश हुआ है इसी ग्रंथ के प्रकाशन के साथ।

१—द्रष्टव्य, बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४६

भारत के अध्यात्मशास्त्र के चिन्तकों का सबसे सुंदर तथा परिष्कृत प्रयास है ब्रह्मविद्या का विश्लेषण, परंतु इस विषय की सारी सामग्री उपनिषद् तथा वेदांत के गूढ़ार्थ-संपन्न संस्कृत ग्रंथों मे उपलब्ध होती है। इस समग्र सामग्री का उपयोग कर विद्वान् लेखक ने बड़ा ही सरल तथा सुबोध ग्रंथ अध्यात्मशास्त्र जैसे गूढ़ तथा कठिन शास्त्र को लेकर लिखा है। स्वामी कृष्णानंद जी ने उपनिषदों का अनुशीलन बड़े मनोयोग से किया है और वे स्वयं योग-मार्ग के मर्मज्ञ साधक हैं। फलतः इस ग्रंथ में उपनिषद् के तत्त्वों का निरूपण बहुत सुंदरता, सरलता तथा युक्तिमत्ता के साथ किया गया है।

ग्रंथ मे सोलह अध्याय होने पर भी तीन मुख्य प्रकरण हैं जिनमे क्रमशः साधक, साधन तथा साध्य का विवेचन किया गया है। आजकल पाश्चात्य विद्वानों तथा उनकी शिक्षा से मंडित हमारे अंग्रेजी शिक्षित विद्वानों का भी यह भ्रांत धारणा बनी हुई है कि वेदांत में, विशेषत. अद्वैत वेदांत में आचार-शास्त्र का नितांत अभाव है। वे नहीं जानते कि वेदांत एक विशिष्ट साधन-मार्ग है जिसका अनुशीलन अधिकारी व्यक्ति ही कर सकता है। इसके लिये आवश्यकता होती है साधनचतुष्टय की। इस विषय का सुंदर निरूपण ग्रंथ के द्वितीय खंड मे किया गया है। लेखक आप्त वाक्य के मीमांसक होने हुए भी युक्ति तथा तर्क से पराङ्मुख नहीं है, दूसरे अध्याय—प्रमाण विमर्श—के अनुशीलन से उनकी तर्क-पद्धति का परिचय मिलता है। इसमें अनेक युक्तियों द्वारा वेद की प्रामाणिकता तथा अपूर्वता का सांगोपांग निरूपण किया गया है। इसी प्रकार तृतीय खंड के तृतीय अध्याय में (पृष्ठ १९१–२३०) योग तथा वेदांत का पूर्ण सामंजस्य दिखाया गया है। समीक्षक की दृष्टि में ये दोनों अध्याय विद्वानों के लिये विशेष मननीय हैं।

'ज्ञानं भार क्रियां विना'। भारतीय तत्त्वज्ञान का अध्यवसान है आचार-शास्त्र। वैदिक धर्म केवल सिद्धांतों का समुच्चय नहीं, प्रत्युत जीवन को सुधारने का एक विशद मार्ग है। इस मार्ग तथा उसके साधन के वर्णन के लिये स्वामीजी हमारे धन्यवाद के भाजन हैं। अनेक आवश्यक सूचियों से यह ग्रंथ और भी उपादेय बन गया है और वेदांत-विचार तथा योगविद्या मे रुचि रखनेवाले व्यक्ति के लिये संग्राह्य है।

—बलदेव उपाध्याय

श्याम-संदेश—लेखक श्री श्यामसुंदरलाल दीक्षित, प्रकाशक नागरी-निकेतन, आगरा, आकार डबलक्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ ८० + ६, मूल्य ।।।)

यह व्रजभाषा में लिखा गया गीतिकाव्य है। लेखक ने स्वयं इसके संबंध में लिखा है—"और यदि मैं यह कहूँ कि 'श्याम-संदेश' अनुपमेय, अभिनव तथा हिंदी साहित्य के एक आवश्यक अंग की पूर्ति करनेवाला मौलिक काव्य है—तो, न इसे गर्वोक्ति ही समझिए और न अतिशयोक्ति ही। यह कवि का कर्तव्य है साहित्य की समतल भूमि में जहाँ भी उसे गड्ढा दीखता है, वह अपने सहज-स्वभाव-वश उसे भर देता है। मेरा यह प्रयास इसी प्रकार का है।" जिस प्रकार श्री मैथिलीशरण गुप्त ने उपेक्षिता उर्मिला की उपेक्षा का निराकरण साकेत में किया उसी प्रकार लेखक ने इस संदेश में श्यामसुंदर की उपेक्षा का परिहार करने का प्रयास किया है। कृष्ण-काव्य में गोपियों की उक्तियों, अनुभूतियों तथा विचारसरणि के लिये कवियों ने पूरा अवकाश निकाला है, पर श्रीकृष्ण के हृदय का चित्र अंकित करने का भरपूर प्रयास किसी ने नहीं किया, कुछ अस्फुट रेखाएँ ही मिलती हैं, उनके हृदय का पूरा चित्र कहीं नहीं है। यही गड्ढा है जिसे कवि ने पाटा है। उपेक्षा 'भागवत' से लेकर 'रत्नाकर' के 'उद्धव-शतक' तक दिखाई देती है। यह विवादग्रस्त विषय है कि 'उपेक्षा' को 'अपेक्षा' में परिणत करने की अपेक्षा है ही। क्योंकि भक्ति और समाज की दृष्टि से श्रीकृष्ण के उस हृदय का आभास भर देने की आवश्यकता थी। श्रीकृष्ण को आशिकों के बीच देखने-दिखाने में यहाँ की मर्यादा बहुत कुछ बाधक थी। फिर भी निरपेक्ष दृष्टि से हृदय को सामने लाने की लालसा कुछ-कुछ बलवती होती आई है और भिन्न-भिन्न दृष्टियों से कुछ कवियों ने अपेक्षाकृत अधिक कहा भी है। दीक्षित जी, जो स्वयं श्यामसुंदर हैं, गीतिकाव्य के रूप में अपनी सहज कवि-हृदय-वृत्ति को नहीं रोक सके और उन्हें विवश होकर एक छोटा सा गीति बंध लिख देना पड़ा।

व्रजभाषा में 'स' के बदले 'श' ही लिखने की छूट लेखक ने माँगी है, पर उसका पालन नहीं किया। 'स्वतंत्रता-दिवस' ऐसे आधुनिक भावापन्न विषयों का भी इसमें समावेश है। व्रजभाषा की रचना लेखक की अच्छी है। जब लोग व्रजभाषा से पराङ्मुख हों, तब लेखक का यह प्रयास और उसकी उस भाषा में क्षमता अवश्य प्रशंसनीय है। रचना सरस है।

सुंदर-प्रकाश—लेखक श्री रमाशंकर प्रसाद; प्रकाशक रामायण भवन, प्रयाग; आकार डबलक्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ ८+४०८, मूल्य ४), सचित्र।

यह रामचरितमानस की मानस-प्रदीप टीका का सुंदरकांड है। इस कांड का विशेष प्रचलन होने से लेखक ने इसपर विशेष दृष्टि डाली है। सबसे पहले इसी कांड का भाष्य किया है। आरंभ में रामचरितमानस और सुंदरकांड के नामकरण की व्याख्या की गई है। फिर भाष्य है और अंत में सूक्ष्मावलोकन है जिसमें भाषा, शैली, विषय, सिद्धांत आदि का विचार है। फिर परिशिष्ट में अलंकारों पर विचार, ग्रंथानुक्रमणिका और शब्दार्थ अनुक्रमणिका है। यहाँ तक कि पारायणक्रम और रामशलाका प्रश्न भी दे दिया गया है। ग्रंथ के भाष्य में संस्कृत के ग्रंथों, वेद, उपनिषद्, महाभारत आदि से उद्धरण भी प्रमाण के लिये उद्धृत हैं। तात्पर्य यह कि भाष्यकार ने अपनी ओर से कुछ उठा नहीं रखा है। शंका-समाधान आदि का भी विचार है। यथास्थान अँगरेजी शब्द और उसकी व्याख्या भी दी गई है। पुस्तक व्यासों और भक्तों के लिये उपयोगी है। पर इसका साहित्यगत महत्त्व वैसा नहीं है—स्थान-स्थान पर अलंकार-निरूपण करने पर भी और अलंकारों की व्याख्या देने पर भी। कुछ विचारणीय स्थलों का उल्लेख किया जाता है, स्थालीपुलकन्याय से।

(१) खर आरूढ़ नगन दससीसा। मुंडित सिर खंडित भुजबीसा॥

इस अर्धाली में स्वभावोक्ति अलंकार माना गया है। 'खर' शब्द को फारसी का बताया गया है।

(२) सीतल निसि तव असि बर धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा॥

इस अर्धाली की टीका है—'हे खड्ग तेरी सुंदर धार ठंडी रात्रि के समान है······।' वस्तुतः तुलसीदास जी ने पूरी चौपाई प्रसन्नराघव नाटक के आधार पर बनाई है। मूल श्लोक यों है—

> चन्द्रहास हर मे परितापं रामचन्द्र विरहानल जातम्।
> त्वं हि कान्तिजितमौक्तिकचूर्णं वहसि धारया शीतलमंभः॥

चौपाई यों होनी चाहिए—

> चंद्रहास हर मम परिताप। रघुपति बिरह अनल सजात॥
> सीतल निसित बहसि बर धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा॥

हस्तलेखों में शब्द मिलाकर लिखे जाते हैं। इसलिये 'निसितवहसि' के टुकड़े हो गए 'निसि तव हसि'—'दशरा मशरा:' की भाँति। 'हसि' को 'असि' कर दिया

गया। नागरीप्रचारिणी सभा (काशी) से जो प्रामाणिक 'मानस' प्रकाशित हुआ है उसमें भी अर्धाली यों ही है। 'असि' का पाठांतर 'हसि' अवश्य दे दिया गया है। 'मानस' में कितने ही अपपाठ है, जो वैज्ञानिक संस्करणों से सुपाठ कभी न हो सकेंगे। 'साहित्य' और 'विज्ञान' दोनों का योग अपेक्षित है। कोरा 'विज्ञान' ऐसे ही अपपाठों का संग्राहक होगा।

(३) नाना बरन भालु कपि धारी। बिकटानन बिसाल भय भारी॥

इस अर्धाली के 'धारी' का अर्थ किया गया है—रंग के, जाति के। पर वास्तविक अर्थ है समूह, सेना। पुरानी हिंदी कविता का साधारण पाठक भी इस अर्थ से परिचित है। 'रंग' या 'जाति' के लिये 'बरन' शब्द इसी चरण मे पृथक् पड़ा है।

समष्टि मे, लेखक ने जो श्रम किया है वह प्रशंसनीय है, पर उसका साहित्यगत मूल्य उतना नहीं है।

—विश्वनाथप्रसाद मिश्र

नई धारा (मासिक पत्रिका)—प्रधान संपादक श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, सहकारी संपादक श्री वीरेंद्रनारायण, वर्ष १, अक १, (अप्रैल १९५०) प्रकाशक अशोक प्रेस, महेंद्रू, पटना; पृष्ठ लगभग १२५ (ड० डि० सोलहपेजी), छपाई आदि उत्तम।

प्रस्तुत पत्रिका के इस प्रथम अंक को देखकर ही यह आशा बँधती है कि जिन उद्देश्यों को लेकर यह आविर्भूत हुई है उसकी सिद्धि में इसे सफलता मिलेगी। स्थायी शीर्षकों के रूप में इसका विषय-विभाजन द्योतित करता है कि इसकी दृष्टि उन अस्पृष्ट और उपेक्षित विषयों की ओर भी हैं जिनसे अधिकांश पत्रिकाएँ असंपृक्त रहती आई है; यथा हिंदी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं की साहित्य-समृद्धि के परिचय, श्रेष्ठ साहित्यिकों के ऐसे पत्रों का प्रकाशन जिनसे उनकी विचारधारा को हृदयंगम करना सरल हो जाता और अनेक भ्रांतियाँ स्वतः दूर हो जाती हैं, अन्यान्य विदेशी भाषाओं के लेखकों की विशेषताओं का परिचय आदि। इस अंक के लेखों में डा० सत्यनारायण का 'डिरी डोलमा' राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह का 'पूरब और पच्छिम' (धारावाही संस्मरण) तथा श्री 'दिनकर' का 'राजेंद्रबाबू से साहित्यिक इंटरव्यू' विशेष रोचक हैं। श्री देवेंद्रनाथ शर्मा के 'आलोचना के नाम पर' शीर्षक निबंध में संप्रति आलोचना के नाम पर हिंदी में फैले वितंडावाद और अनाचार का परिचय है। कविताएँ भी अधिकांश उदात्त भावों को जगानेवाली हैं। कलम के धनी लेखकों का सहयोग और राजा राधिकारमण

प्रसाद सिंह जी का आश्रय इसे प्राप्त होने से इसका सुनिश्चित सफल भविष्य असंदिग्ध है।

महादेव भाई की डायरी (दूसरा भाग)—संपादक श्री नरहरि द्वा० पारीख ; अनु० रामनारायण चौधरी ; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद , पृष्ठ १२ + ४४८ (ड० डि० सोलहपेजी) , सचित्र ; प्रथम संस्करण, अप्रैल १९५०, मूल्य ५) रु० ।

गांधी जी के निजी सचिव स्वर्गीय महादेव भाई देसाई की डायरी के इस भाग में यरवदा जेल की ४-६-३२ से १-१-३३ तक की दिनचर्या दी हुई है। उन दिनों जेल में से ही महात्मा जी ने हरिजन-आंदोलन आरंभ किया था और उसी संबंध मे उन्हें अनशन करना पड़ा था। इस डायरी मे प्रधानतः इसी अनशन उपवास, व्रत की सांगोपांग चर्चा और मीमांसा है। अनशन और उपवास किसे, कब और किसके लिये करना समीचीन है, आदि बातें विस्तृत रूप में इसमें आई है। उक्त तीन महीनों की अवधि मे महात्मा जी ने अपने संपर्क मे आनेवाले अनेक छोटे-बड़े, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध व्यक्तियों की नाना प्रकार की शंकाओं का समाधान भी प्रत्यक्ष वार्तालाप और पत्रोत्तर के रूप में किया था। उन समस्त साधारण-असाधारण बातो का उल्लेख डायरी के इस भाग में है। दुराग्रहियों तथा सत्यान्वेषी जिज्ञासुओं का समाधान वे समान रूप से कितनी स्पष्टता से करते थे इसका परिचय किसी भी दिन की दिनचर्या से स्पष्ट हो जाता है।

यद्यपि डायरी का यह भाग हिंदू धर्म और सामाजिक संगठन से ही विशेष रूप से संबद्ध है, तथापि महादेव भाई की पारखी दृष्टि ने नित्यप्रति की सरस बातों, उक्तियों आदि से जटित कर उसे सहृदय पाठकों के लिये रुचिकर बना दिया है। डायरी के अंत में तीन परिशिष्ट दिए गए हैं जिनमे सांप्रदायिक निर्णय के संबंध मे गांधी जी और सरकार का पत्रव्यवहार, अनशन संबंधी उनका वक्तव्य तथा हरिजन-कार्य-संबंधी वक्तव्य सन्निविष्ट है। तत्कालीन संघर्ष से अपरिचित पाठकों के लिये ये परिशिष्ट विशेष उपादेय है। अंत मे नामानुक्रमणिका देकर ग्रंथ और उपयोगी बना दिया गया है। यह संपूर्ण डायरी एक प्रकार से महात्मा जी की 'आत्मकथा' का उत्तरार्द्ध है और विश्वास है, उसी रूप में समादृत होगा।

—शंभुनाथ वाजपेयी

राजकीय ओषधि-योग-संग्रह—लेखक आयुर्वेदाचार्य प० रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी, ए० एम० एस ; चौखंभा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस; पृष्ठ संख्या ६१२ ; मूल्य ८)

प्रस्तुत पुस्तक में उत्तरप्रदेशीय सरकार के ग्रामीण देशी चिकित्सालयों में प्रयुक्त होनेवाले योगों को प्रमुख रूप से आधार मानकर एवं सामान्यतया चिकित्सा-कार्य में प्रयुक्त होनेवाले प्रभावकारी २३० योगों का संकलन कर नवीन ढंग से वैज्ञानिक निरूपण किया गया है। प्रत्येक योग का वर्णन तथा विवेचन ग्रंथ-निर्देश, अधिकार, घटक, निर्माण-विधि, निर्मित औषध की परीक्षा, गुण, उपयोग, क्रिया, रोग-निर्देश, रोग-निषेध, सावधानी तथा मात्रा —इन १२ शीर्षकों के अंतर्गत किया गया है। ओषधियों का संग्रह रोगाधिकार-क्रम से किया गया है। इससे प्रत्यक्ष चिकित्सा में बहुत सुविधा होगी। प्रत्येक प्रकरण के प्रारंभ में चिकित्सा-कार्य के लिये उपयोगी निर्देश बहुत संक्षिप्त तथा सूत्र शैली में दिए गए हैं, जो विस्तृत न होने पर भी बहुत पूर्ण हैं।

पुस्तक के प्रारंभ में जो ओषधि-निर्माण संबंधी ज्ञान-राशि का संग्रह किया गया है वह क्रियात्मक अनुभव के उपरांत लिखा गया है, अतः बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा।

इस कोटि की व्यावहारिक ज्ञानोत्पादक पुस्तकों की आयुर्वेद में बहुत कमी है। त्रिवेदी जी ने इस प्रकार का नवीन विज्ञानसंमत ग्रंथ लिखकर आयुर्वेद की ठोस सेवा की है, एतदर्थ वे बधाई के पात्र हैं। पुस्तक तरुण चिकित्सकों के लिये अनिवार्यतः एवं सामान्यतया सभी आयुर्वेद-प्रेमियों के लिये संग्राह्य है।

—गंगासहाय पांडेय

अहमदाबाद नवजीवन प्रकाशन मंदिर की दो पुस्तकें—

(१) सच्ची शिक्षा—लेखक गांधी जी, अनु० श्री रामनारायण चौधरी; पृष्ठ सं० ३४६ (ड० क्रा० सोलहपेजी); मूल्य २॥); १९५० ई०।

(२) बुनियादी शिक्षा—लेखक गांधी जी; पृष्ठ १७६ (ड० क्रा० सोलहपेजी); मू० १॥); १९५० ई०।

उपर्युक्त दोनों पुस्तकों में गांधी जी के शिक्षासंबंधी विचार संकलित हैं। पहली में तीन भाग किए गए हैं। प्रथम भाग में शिक्षा का आदर्श, द्वितीय में विद्यार्थियों के प्रश्नों की चर्चा और तृतीय में राष्ट्रभाषा-प्रचार संबंधी लेख हैं तथा अंत में शब्दानुक्रमणी भी है। दूसरी पुस्तक में पाँच भाग हैं—पुनर्गठन का सिद्धांत, वर्धा-शिक्षा-परिषद्, वर्धा-शिक्षा-योजना, कुछ महत्त्व के प्रयोग, आगे का काम।

पहली में शिक्षा-संबंधी सामान्य विचार हैं, दूसरी में उनका किसी हद तक एक निश्चित रूप और प्रयोग तथा कठिनाइयों आदि का विचार है।

गांधी जी वर्त्तमान (मेकाले) शिक्षा-पद्धति के कठोर विरोधी थे और सन् १९२० से ही उसका बहिष्कार कर देश के युवकों को सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा देने के लिये प्रयत्नशील थे। सन् १९३७ में अपनी नई शिक्षा-पद्धति को एक रूप देकर उसका उन्होंने कांग्रेस सरकारों द्वारा प्रयोग कराना चाहा था। कुछ सफल प्रयोग हुए भी, पर व्यापक न हो सके। सन् ४७ में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद पुनः उधर ध्यान गया, पर अन्य विकट समस्याओं के सामने फिर प्रश्न वहीं रह गया।

गांधी जी की बुनियादी शिक्षा केवल प्राथमिक शिक्षा की एक पद्धति नहीं, वह 'संपूर्ण राष्ट्रीय शिक्षा का केंद्र' है। उसका तत्त्व यह है कि ७ से १४ वर्ष की अवस्था तक बालक को मातृभाषा के माध्यम से किसी मूल उद्योग (गांधी जी के विचार से कताई-बुनाई) द्वारा (केवल 'सहित' नहीं) निःशुल्क शिक्षा इस प्रकार दी जाय कि चौदह वर्ष की अवस्था मे वह एक चरित्रवान् स्वावलंबी व्यक्ति बन जाय। स्वावलंबन के अतिरिक्त इस अवधि में उसका (अंग्रेजी को छोड़कर) अन्य विषयों का ज्ञान उनके विचार से मैट्रिक से कम न होगा। राष्ट्रभाषा हिंदी का भी उसे ज्ञान होगा। गांधी जी का निश्चित मत था कि केवल इसी पद्धति से कम से कम समय और व्यय मे संपूर्ण देश को शिक्षित किया जा सकता है। इस शिक्षा में उनके विचार से विद्यालय के भवन और उपस्कार के अतिरिक्त शिक्षा का चलता खर्च बालकों के श्रम से ही निकलना चाहिए।

इस पद्धति की बड़ी आलोचना हुई और इसे गांधी जी का 'नया पागलपन' तक कहा गया। जिसे गांधी जी ने 'भारत को अपनी सबसे बड़ी देन' कहा, वह शिक्षा-पद्धति शिक्षाशास्त्रियों के गले के नीचे न उतर सकी इसमें विशेष आश्चर्य नहीं। पर इसका कारण पद्धति की सदोषता है या और कुछ, यह अब भी मनन और प्रयोग का विषय है, विशेषतः जब शिक्षा में आमूल परिवर्तन की चर्चा इधर फिर आरंभ हुई है। इसमें संदेह नहीं कि इस विषय पर गांधी जी के विचारों और तर्कों को स्पष्ट करने में उक्त दोनों पुस्तकें बहुत उपयोगी सिद्ध होंगी। इनमें बुनियादी शिक्षा के साथ-साथ अन्य महत्त्वपूर्ण प्रासंगिक विषयों—जैसे सहशिक्षा, धार्मिक शिक्षा, चारित्र्य, स्त्रीशिक्षा, उच्चशिक्षा आदि पर भी विचार व्यक्त किए गए हैं।

पुस्तकों की भाषा स्पष्ट है। 'अ' की बारहखड़ी के मोह के साथ छपाई में सादगी और शुद्धता पर तो नवजीवन प्रकाशन का विशेष ध्यान रहता है। हाँ, कहीं-कहीं शुद्ध उर्दू के प्रयोग की धुन में 'हर्ज', 'मजबूर' जैसी अशुद्धियाँ घोर अरुचि उत्पन्न करती हैं। यह अज्ञान प्रकट करने की अपेक्षा तो अक्षर के नीचे बिंदी लगाकर 'शुद्ध' लिखने की प्रवृत्ति को छोड़ देना अच्छा है।

—चित्रगुप्त

समीक्षार्थ प्राप्त

अंगराज—लेखक श्री आनंदकुमार; प्रकाशक राजपाल ऐंड संस, दिल्ली मूल्य ७)

अछूत—लेखक श्री मुल्कराज आनंद; प्रकाशक निष्काम प्रेस, मेरठ। मू० १॥)

आचार्य शुक्ल और उनकी त्रिवेणी—लेखक श्री शिवनंदनप्रसाद, एम० ए०, साहित्यरत्न; प्रकाशक रामसहायलाल पुस्तकविक्रेता, गया। मू० १॥।)

आत्मविकास—लेखक श्री आनंदकुमार, प्रकाशक राजपाल ऐंड संस, दिल्ली। मूल्य ४)

आश्रम की बहनों को (गांधी जी के पत्र)—संपादक काका कालेलकर; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य १।)

आश्रम भजनावली—संग्राहक नारायण मोरेश्वर खरे; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद। मूल्य ॥=)

कला की कलम—लेखक श्री रघुवीरशरण मिश्र; प्रकाशक अखिल भारतीय राष्ट्रीय साहित्य प्रकाशन परिषद्, मेरठ। मूल्य ३)

कौमारभृत्यम्—ले० श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी, आयुर्वेदाचार्य; प्रकाशक चौखंभा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस। मूल्य ८)

गणित का इतिहास—लेखक श्री सोहनलाल गुप्त एम० एस-सी०, एम० ए० प्रकाशक शांति पुस्तक भंडार, कनखल। मू० ।=)

गीतमाधवी—लेखक श्री चंद्रकुँवर बर्त्वाल; प्रकाशक कुसुमपाल, नीहारिका लखनऊ। मूल्य २॥)

ज्योतिष के मनोरंजन—ले० श्री सोहनलाल गुप्त; प्रकाशक शांति पुस्तक भंडार, कनखल। मूल्य ॥।)

ठोस रेखागणित—ले० श्री कमलमोहन; प्रकाशक हिंदी प्रकाशन मंडल, हिंदू विश्वविद्यालय, काशी। मूल्य २)

डाक्टर वर्मा के शिवाजी—ले० श्री भुवनारायण सिंह; प्रकाशक सत्य प्रकाशन, नौबस्ता, आगरा। मूल्य ।=)

तुलसी—ले० डा० माताप्रसाद गुप्त एम० ए०, डी० लिट्० ; प्रकाशक साहित्य-कुटीर, प्रयाग। मूल्य २)

नंदिनी—ले० श्री चंद्रकुँवर बर्त्वाल ; प्रकाशक एजुकेशन पब्लिशिंग कंपनी, लखनऊ। मूल्य २॥)

नईधारा (मासिक, भाग १ अंक १, अप्रैल १९५०)—संपादक श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ; प्रकाशक अशोक प्रेस, पटना। वार्षिक मूल्य १०)

निर्गुणधारा—ले० श्री बैजनाथ विश्वनाथ ; प्रकाशक मानसरोवर प्रकाशन, गया। मूल्य ३)

नीहारिका—ले० श्री सुधाकर पांडे'; प्रकाशक कलाकुंज, बड़ी पियरी, काशी।

न्याय—ले० श्री दीपसिंह बड़गूजर 'दीपक' ; प्रकाशक अजमेर कोआपरेटिव प्रिंटर्स ऐंड पब्लिशर्स लि०, अजमेर। मूल्य १।)

प्यारे राजा बेटा, भाग १, २—ले० श्री ऋषभदास रॉका ; प्रकाशक भारत जैन महामंडल, वर्धा। मूल्य प्रत्येक भाग ॥=)

प्रणयिनी—लेखक श्री चंद्रकुँवर बर्त्वाल ; प्रकाशक कुसुमपाल, नीहारिका, लखनऊ। मूल्य १॥)

प्रसाद जी का अजातशत्रु—ले० श्री कृष्णकुमार सिन्हा ; प्रकाशक राजेश्वरी पुस्तकालय, गया। मूल्य ३)

प्रसाद जी का चंद्रगुप्त—लेखक और प्रकाशक वही। मूल्य २॥)

मनोविज्ञान तथा शिवसंकल्प—लेखक स्वामी आत्मानंद ; प्रकाशक वैदिक साहित्य सदन, देहली। मूल्य २॥)

मरुकुंज—लेखक श्री मथुरादास त्रिकमजी ; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद। मूल्य १।)

मर्मविज्ञान—लेखक श्री रामरक्ष पाठक ; प्रकाशक चौखंभा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस। मूल्य ३॥)

महादेव भाई का पूर्वचरित—लेखक श्री नरहरि द्वा० पारीख; अनुवादक श्री रामनारायण चौधरी ; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद। मूल्य ॥।=)

मिलन पथ पर—लेखक तथा प्रकाशक श्री रामनारायण सिंह, सरकार बाई लेन, कलकत्ता। मू० २)

मीराँ, एक अध्ययन—लेखिका श्री पद्मावती 'शबनम'; प्रकाशक लोकसेवक प्रकाशन, काशी। मूल्य ३॥)

मृत्यु में जीवन—लेखक श्री अरुण एम० ए०; प्रकाशक मदनमोहन बी० ए०, निष्काम प्रेस, मेरठ। मूल्य १)

राजस्थानी भाषा और साहित्य—लेखक श्री मोतीलाल मेनारिया एम० ए०; प्रकाशक हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। मूल्य ६)

रामचरितमानस का पाठ, भाग १, २—ले० डा० माताप्रसाद गुप्त एम० ए० डी० लिट्०; प्रकाशक वही। मूल्य प्रत्येक भाग ४)

विराट्ज्योति—ले० श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा; प्रकाशक श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा, लखनऊ। मूल्य ॥=)

विज्ञान के मनोरंजन—ले० श्री सोहनलाल गुप्त एम० एस-सी०, एम० ए०; प्रकाशक शांति पुस्तक भंडार, कनखल; मूल्य ।)

विश्वज्योति बापू—ले० श्री रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'; प्रकाशक लोकसेवा प्रकाशन मंडल, आगरा। मूल्य १॥)

श्री वेंकटेश्वर समाचार (साप्ताहिक, बंबई), वर्ष ५५, अंक २८, दीपावली अंक—संपादक श्री देवेंद्र शर्मा। मूल्य १), वार्षिक ५)

सौश्रुती—ले० श्री रमानाथ द्विवेदी, एम० ए०, ए० एम० एस०; प्रकाशक चौखंभा संस्कृत सीरीज, बनारस। मूल्य ८॥)

हिंदी काव्य मे प्रकृति-चित्रण लेखिका श्री किरणकुमारी गुप्ता एम० ए०, पी-एच० डी०; प्रकाशक हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। मूल्य ६)

हिंदी बाल कहानियाँ—प्रकाशक नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद। मूल्य ।)

हिंदी बालपाठावली—प्रकाशक वही। मूल्य ।=)

हिंदी समाचारपत्र सूची, भाग १—संपादक श्री वंकटलाल ओझा; प्रकाशक हिंदी समाचारपत्र संग्रहालय, कसारट्टा रोड, हैदराबाद (दक्षिण)। मूल्य १।)

हृदय का चित्र—ले० श्री लक्ष्मणप्रसाद तिवारी; प्रकाशिका वासंती देवी त्रिपाठी, वासंती साहित्य मंदिर, पो० गोला (गोरखपुर)। मूल्य ॥।)

विविध

भारतेंदु जन्मशती

३१ भाद्रपद, ऋषिपंचमी के दिन देश के हिदीप्रेमियों ने भारतेंदु जन्मशती बड़े प्रेम और उत्साह के साथ मनाई। भारतेंदु की कीर्ति के अनुरूप ही उक्त अवसर पर संस्थाओं ने उत्सवादि का आयोजन किया, नागरीप्रचारिणी सभा ने भी यथा-साध्य विभिन्न आयोजनो द्वारा उस महापुरुष के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की (विशेष आगे पृष्ठ २५० पर)। रेडियो ने भारतेंदु संबंधी कार्यक्रम प्रसारित किए और पत्र-पत्रिकाओं ने विशेषांक निकाले। दैनिक पत्रों में "आज", "अमृत पत्रिका", "भारत" और "संसार" के अच्छे विशेषांक निकले। मासिक में आगरे के "साहित्य-संदेश" का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इसमें प्रचुर और सुंदर पाठ्य सामग्री प्रस्तुत की गई। नई धारा, अजंता, विक्रम आदि कई पत्रिकाओं ने, जिनके विशेषांक नही निकले, संपादकीय तथा अन्य लेखों द्वारा भारतेंदु विषयक चर्चा की। अंग्रेजी पत्र भी पीछे नहीं रहे। मासिक "इंडियन पी० ई० एन०", (बंबई), साप्ताहिक "थॉट" (दिल्ली) तथा "स्टेट्समैन" (दैनिक) जैसे पत्रों ने भी सुंदर टिप्पणियाँ लिखीं।

शती महोत्सव के अवसर पर दो विशेष अभावों की पूर्ति की हमें बहुत आशा थी, जो अपूर्ण ही रही। एक तो किसी निश्चित और सुविचारित योजना के अनुसार दृढ़ सत्संकल्प के साथ साहित्य-निर्माण के कार्य का प्रारंभ और दूसरा नाट्यकला की उन्नति के लिये हिंदी साहित्यिकों के अपने रंगमंच का निर्माण।

दक्षिण-भारत और हिंदी

सन् १९१७ में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के इंदौर अधिवेशन के निश्चय के अनुसार महात्मा गांधी ने दक्षिण मे हिंदी-प्रचार का कार्य आरंभ कराया था। सन् १९२७ तक वह कार्य सम्मेलन के प्रबंध मे होता रहा, उसके बाद प्रमुख रूप से दक्षिणभारत-हिंदी-प्रचार-सभा उसे करती आ रही है। इस बीच लाखों

व्यक्तियों ने वहाँ हिंदी सीखी और प्रायः प्रत्येक स्थान में हिंदी बोलने-समझनेवालों की संख्या बढ़ रही है। परंतु हिंदी के राजभाषा स्वीकृत होने में अधिक विरोध दक्षिण के, विशेषतः मद्रास के कुछ लोगों द्वारा हुआ था। तब से यह विशेष रूप से अनुभव किया गया कि वास्तविक स्थिति तथा इस विरोध के कारण का पता लगाकर यथासंभव उसे दूर करना तथा उत्तर और दक्षिण के बीच अधिकाधिक संपर्क बढ़ाना राष्ट्रप्रेमी हिंदी-हितैषियों का कर्तव्य और उत्तरदायित्व है। तदनुसार हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने सितंबर के अंत में अपने तत्कालीन सभापति श्री चंद्रबली पांडे की प्रमुखता में एक शिष्टमंडल दक्षिण भेजा था। यह मंडल लगभग एक मास वहाँ रहा और मद्रास नगर तथा कर्नाटक, केरल, तमिलनाड और आंध्र प्रदेशों के प्रमुख स्थानों में जाकर प्रायः सभी प्रकार के विचारों के शिक्षित वर्ग से मिला। इस संपर्क का परिणाम सुंदर हुआ और सर्वत्र सद्भावना के प्रमाण मिले। यह भी प्रकट हो गया कि वस्तुतः हिंदी का विरोध वहाँ नाम मात्र का है। जहाँ है वहाँ मंडल ने उसके तीन कारण बताए है—(१) वहाँ के लोग दिल्ली के साम्राज्य के विरुद्ध है, (२) अब्राह्मण हिंदी को ब्राह्मणों की भाषा समझते और ब्राह्मण-विरोध के कारण हिंदी का भी विरोध करते हैं, (३) उन्हें भय है कि उनकी सुंदर और संपन्न प्रांदेशिक भाषाओं को हिंदी दबा न ले।

स्पष्ट है कि इन तीनों के मूल में एक ही मुख्य कारण-भ्रम है। किसी भी प्रदेश पर दिल्ली का 'साम्राज्य' समझना तो आज उपहास्य अज्ञान माना जायगा। और हिंदी न तो केवल ब्राह्मणों और आर्यों की भाषा है (भाषाविज्ञान के अनुसार वह भले ही आर्यवर्ग की भाषा हो), न दक्षिण या किसी भी प्रदेश की समृद्ध भाषाओं को उससे तनिक भी आँच पहुँचने की आशंका है, प्रत्युत उनका पारस्परिक संपर्क और आदान-प्रदान निश्चय ही हिंदी तथा उसके संपर्क में आनेवाली भाषाओं की विशेष समृद्धि का कारण होगा।

परंतु हमें यह मानना ही पड़ेगा कि उपर्युक्त भ्रम और आशंका को दूर करने का थोड़ा-बहुत तो उत्तरदायित्व उत्तर-भारत के हिंदी-भाषियों पर भी अवश्य है। हमारे विचार से, प्रतिष्ठित संस्थाओं के शिष्टमंडल तो समय-समय पर जायँ ही; इसके अतिरिक्त, हम जब हिंदी सीखना दक्षिण-भारतीयों का कर्तव्य समझते हैं तो हिंदी-भाषियों का भी आवश्यक कर्तव्य है कि वे न केवल उनकी कठिनाइयों को समझकर यथासंभव उनका मार्ग सरल बनाने में सहायक हों, प्रत्युत स्वयं भी

दक्षिण की भाषाएँ सीखकर उनके साहित्य और जीवन का निकट से परिचय प्राप्त करें। कम से कम हिंदी के विद्वानों, कवियों, लेखकों और पत्रकारों को तो हिंदी के अतिरिक्त दो अन्य प्रादेशिक भाषाएँ—एक उत्तर की और एक द्रविड़ भाषाओं में से कोई—प्रसन्नता से सीखनी चाहिए और चाहने पर यह कोई बहुत कठिन कार्य न होगा। इससे ज्ञानवर्धन तो होगा ही, निकटतर संपर्क द्वारा हमारी सांस्कृतिक एकसूत्रता भी सुदृढ़ होगी। हमारा विश्वास है, यदि इस प्रकार हिंदी के विद्वान् दक्षिण की साहित्यिक प्रगति से परिचित हों और हिंदी जगत् को भी उससे परिचित कराएँ तो उत्तर दक्षिण के बीच की कृत्रिम दूरी निश्चय ही बहुत शीघ्र दूर हो जायगी।

इस कार्य में सुगमता और स्थायित्व लाने के लिये यह भी आवश्यक है कि उत्तर भारत के विश्वविद्यालयों में अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साथ तमिल, तेलुगू आदि द्रविड़ भाषाओं के साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में प्रोत्साहन और सुविधा प्रदान की जाय तथा ऐसे पृथक् विद्यापीठ भी खोले जायँ, जहाँ अहिंदीभाषी छात्र हिंदी की और हिंदीभाषी छात्र अन्य प्रादेशिक भाषाओं की शिक्षा प्राप्त कर सकें।

इस प्रसंग में हम भारत के लिये एक लिपि की आवश्यकता को भूल नहीं सकते। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष ने अपने अभिभाषण में इस ओर ध्यान दिलाया है (इसी अंक में 'चयन', पृष्ठ २१८)। यहाँ हम श्री अनंतशयनम् आयंगर के उस मंतव्य का एतत्संबंधी अंश जिसे उन्होंने भारतेंदु शती के अवसर पर सभा को लिखा था, अहिंदीभाषियों, विशेषतः द्रविड़-भाषा-भाषियों के विचारार्थ उद्धृत करते हैं—

"इस भाषा (राष्ट्रभाषा हिंदी) को लोकप्रिय बनाने तथा इसकी उन्नति के साथ अन्य भाषाओं को भी आगे बढ़ाने के लिये संपूर्ण भारत की एक लिपि होना आवश्यक है और देवनागरी उसके लिये सबसे योग्य है। एक लिपि को स्वीकार कर लेने से भारत की परस्पर संबंधित भाषाओं का अध्ययन अत्यंत सुगम हो जायगा और सांस्कृतिक संपर्क बढ़ने के साथ साथ भारत की सुदृढ़ता में सहायता मिलेगी।"

योजना ?

हिंदी को राजभाषा घोषित हुए एक वर्ष का समय बीत गया, १५ वर्ष की अवधि एक वर्ष कम हुई। इस बीच में उक्त अवधि तथा अंग्रेजी अंकों को लेकर जितने रोष और वाग्वैभव का प्रदर्शन देखने में आया, हिंदी के अभावों

की पूर्ति का प्रयत्न उतना नहीं हुआ। यह दुःख का विषय है। हम मानते हैं कि हिंदी को समृद्ध करना संविधान में संघ सरकार का कर्तव्य स्वीकार किया गया है। परंतु एक वर्ष की प्रतीक्षा ने यह स्पष्ट कर दिया कि सर्व-साधन-संपन्न सरकार की गति इस दिशा में कितनी धीमी है। दिल्ली की अखिलभारतीय-हिंदी-परिषद् तथा मध्यप्रदेश की राष्ट्रभाषा-प्रमाणीकरण-परिषद् ने क्या कार्य किए इसका भी हमें पता नहीं है। इधर पटना विश्वविद्यालय में कुछ शुभ अनुष्ठान हुआ है (द्रष्टव्य 'चयन' पृष्ठ २०६); हम उससे अच्छी ही आशा करते हैं, परंतु अभी से क्या कहा जाय ? अस्तु, विगत एक वर्ष की शून्यता यह कठोर संकेत करती है कि आज उन्हीं संस्थाओं और व्यक्तियों के, जिन्होंने राष्ट्रभाषा की उन्नति और प्रतिष्ठा के लिये आज-तक अनेक त्याग और प्रयत्न किए, फिर दूने उत्साह से साहित्य-निर्माण के कार्य में जुट जाने की आवश्यकता है और इसके लिये आवश्यकता है एक व्यापक और सम्मिलित योजना की, जिसके अंतर्गत समय और कार्य-विभाग के अनुसार सरलता की दृष्टि से अन्य परस्पर पूरक योजनाएँ भी हों। ऐसी योजना बनाकर कभी का कार्य आरंभ हो जाना चाहिए था, पर अब और विलंब घातक होगा।

हिंदी की प्रमुख संस्थाएँ सम्मिलित प्रयत्न से विभिन्न विषयों के विद्वानों का सहयोग प्राप्त कर इस दिशा में आगे बढ़ें, तो निश्चय ही आगामी कुछ महीनों में योजना का निर्माण और तदनुसार कार्यारंभ बहुत कठिन न होगा। पर अधिक सोच-विचार के लिये अब समय नहीं रह गया है।

—संपादक

सभा की प्रगति

(वैशाख-पौष २००७)

२६ चैत्र संवत् २००६ को हुए सभा के ५७ वें वार्षिक अधिवेशन में संवत् २००७ के लिये निम्नलिखित कार्याधिकारी और प्रबंध समिति के सदस्य चुने गए—

कार्याधिकारी

सभापति श्री आचार्य नरेंद्रदेव। उपसभापति (१) श्री सहदेव सिंह। उपसभापति (२) श्री पं० बलदेव उपाध्याय। प्रधानमंत्री-श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़। साहित्य मंत्री-श्री राजेंद्रनारायण शर्मा। अर्थमंत्री-श्री मुरारीलाल केडिया। प्रकाशन मंत्री-श्री काशीनाथ उपाध्याय। प्रचार मंत्री-श्री रत्नशंकर प्रसाद। संपत्ति-निरीक्षक-श्री मथुरादास। पुस्तकालय निरीक्षक-श्री देवीनारायण ऐडवोकेट। आयव्यय निरीक्षक-श्री हरनारायण टंडन।

प्रबंध समिति के सदस्य

(सं० २००७–२००६)

काशी—श्री दिलीपनारायण सिंह ; श्री राय कृष्णदास ; श्री श्रीनिवास ; श्री ठा० शिवकुमार सिंह ; श्री गिरिजाशंकर गौड़। उत्तर प्रदेश-श्री मैथिलीशरण गुप्त; श्री भगवतीशरण सिंह। राज्य—श्री झाबरमल शर्मा; श्री मोतीलाल मेनारिया। सिंध—स्थान रिक्त। दिल्ली—श्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल। असम—श्री श्रीप्रकाश। मैसूर—श्री जी० सच्चिदानंद। रूस—श्री ए० वारानिकोव। अमेरिका—श्री जगदीशचंद्र अरोड़ा।

(सं० २००६–२००८)

काशी—श्री बच्चन सिंह ; श्री करुणापति त्रिपाठी ; श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ; श्री कृष्णानंद ; श्री पद्मनारायण आचार्य। बंगाल—श्री डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या। उत्कल—श्री गोविंद चंद्र मिश्र ; उत्तरप्रदेश—श्री अशोक जी ; श्री गोपालचंद्र सिंह। पंजाब—श्री जगन्नाथ पुष्करत। बीकानेर राज्य—श्री विद्याधर शास्त्री। बिहार—श्री शिवपूजन सहाय। ब्रह्मदेश—श्री डा० ओम् प्रकाश।

(सं० २००७)

काशी—श्री रामऋषि शुक्ल, श्री गोविंदप्रसाद केजरीवाल; श्री ठाकुरदास ऐडवोकेट; श्री पं० केशवप्रसाद मिश्र; श्री जीवनदास। बंबई—श्री घनश्यामदास पोद्दार। मध्यप्रदेश—श्री नंददुलारे वाजपेयी। राज्य—श्री माधवराव विनायकराव किबे। उत्तरप्रदेश—श्री डा० धीरेंद्र वर्मा। राज्य—श्री विश्वेश्वरनाथ बाग्रे। बड़ोदा—श्री शांतिप्रिय आत्माराम। सिंहल—श्री ना० नागप्पा। मद्रास—श्री हनुमत् शास्त्री।

नियम परिवर्तन

उक्त वार्षिक अधिवेशन में सभा के नियमों में निम्नलिखित परिवर्तन स्वीकृत हुए—

१—नियम २० क में "३" के स्थान पर "५ रु०" किया जाय।

२—नियम २१ इस प्रकार कर दिया जाय—

"सब श्रेणी के सभासदों को उनके सभासद होने के वर्षारंभ से सभा की मुखपत्रिका बिना मूल्य दी जायगी। ये सभासद सभा द्वारा प्रकाशित कोश की एक प्रति ¾ मूल्य पर तथा अन्य पुस्तकों की एक एक प्रति ½ मूल्य पर ले सकते हैं।"

३—नियम ३४ में से यथावश्यकता एक कार्याध्यक्ष' पृथक् कर दिया जाय।

४—नियम ३६ का अंतिम वाक्य, 'परंतु' से लेकर 'होगा' तक, पृथक् कर दिया जाय।

५—नियम ४२ के सब अंश पृथक् कर दिए जायँ। नियम ४३ की नियम संख्या '४२' कर दी जाय तथा इसके उपरांत समस्त नियम-संख्याएँ इसी क्रम से ठीक कर ली जायँ।

६—वर्तमान नियम ४४ के अंतर्गत नवीन (च) विभाग इस प्रकार रखा जाय—"(च) सभा के अंतर्गत सभी विभागों के कर्मचारियों की छुट्टी तथा वेतन की स्वीकृति देना एवं अनुशासन संबंधी अंतिम निर्णय करना।"

७—वर्तमान नियम ५० में से 'यथावश्यकता एक कार्याध्यक्ष' तथा 'जिनमें कम से कम एक महिला सभासद का रहना आवश्यक होगा' ये शब्द पृथक् कर दिए जायँ।

८—वर्तमान नियम ५६ में से 'कार्याध्यक्ष' शब्द पृथक् कर दिया जाय।

आर्यभाषा पुस्तकालय

पुस्तकालय वैशाख से पौष तक २१३ दिन खुला रहा और वाचनालय २५१ दिन। इस अवधि में १३४ नए सदस्य बने तथा २८ व्यक्ति सदस्यता से पृथक् हुए। १४ व्यक्तियों ने पी-एच० डी० के लिये पुस्तकालय का उपयोग किया। दैनिक पाठकों की संख्या प्रतिदिन १०० के लगभग रही। १ साधारण सदस्य आजीवन सदस्य हुए। ३८८ पुस्तकें भेंटस्वरूप, ५४ पुस्तकें समीक्षार्थ तथा ५० पुस्तकें परिवर्तन में प्राप्त हुईं। इनके अतिरिक्त १६३ पुस्तकें खरीदी गईं। इस प्रकार कुल २६७ पुस्तकें पुस्तकालय में बढ़ीं। दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, द्वैमासिक, त्रैमासिक, चतुर्मासिक तथा अर्द्धवार्षिक पत्र-पत्रिकाएँ देश-विदेश से आती रहीं, जिनकी संख्या १२५ तक रही।

हस्तलिखित ग्रंथों की खोज

इस वर्ष हस्तलिखित ग्रंथों के विवरण लेने का कार्य केवल 'दो मास (वैशाख और ज्येष्ठ) हुआ। इधर संवत् २००४-२००६ की त्रैवार्षिक रिपोर्ट तैयार करने का समय हो गया था, अतः प्रधान अन्वेषक श्री दौलतराम जुयाल, उक्त रिपोर्ट तैयार करने के लिये सभा कार्यालय में चले आए। दूसरे अन्वेषक श्री कृष्णकुमार वाजपेयी को अर्थाभाव के कारण खेदपूर्वक अलग कर देना पड़ा।

उक्त दो मास में दोनों अन्वेषकों द्वारा ४९ ग्रंथों के विवरण लिए गए जिनमें से निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण हैं :—

ग्रंथ	ग्रंथकार	रचनाकाल	लिपिकाल	विशेष
नयचक्र की टीका	साह हेमराज	१७२६ वि०	१९२९ वि०	खड़ी बोली गद्य
आत्मदर्शन	नापूराम	„	१९८७ वि०	
सम्यक्तकौमुदीभाषा	जोधराज	१७२४ वि०	१९०० वि०	
परमात्माप्रकाश	दौलतराम	„	१८८६ वि०	गद्य टीका
देवागमस्तोत्रकी वचनिका	जयचद	१८६८ वि०	„	„ „
तिलोकसार	टोडरमल	„	१८८० वि०	„ „
प्रवचनसार सिद्धात की टीका	हेमराज	१७०९ वि०	१८४६ वि०	„ „
शृंगारदर्पण	नंदराम कवि	१९२७ वि०		
भाषालघुव्याकरण	केशवप्रसाद तिवारी	१९३६ वि०	१९३६ वि०	

सुंदरविलास	सुंदरदासजैन	१९२१ वि०	१९७६ वि०
पद्मसागर	तुलसीदास		१९०१ वि०
सुखसदनग्रंथ	गंगदास		,,
तत्वसार	,,		,,

प्रकाशन

इस अवधि में निम्नलिखित नवीन ग्रंथ प्रकाशित हुए—

(१) श्री संपूर्णानंद अभिनंदन ग्रंथ, प्रधान संपादक आचार्य नरेंद्रदेव; मूल्य १५ रु०। (२) चुने फूल, संपादक श्री पद्मनारायण आचार्य; मूल्य २ रु०। (३) जन-जागरण का अग्रदूत—ले० श्री चंद्रबली पांडेय। (४) बेसिक रीडर भाग ३—मूल्य ८ आना। (५) भारतेंदु ग्रंथावली भाग १ (नाटकों का संग्रह) संपादक श्री व्रजरत्नदास; मूल्य ८ रु०। (६) लंकादहन (काव्य) ले० स्व० चौधरी लक्ष्मीनारायण सिंह, 'ईश'; मूल्य १॥ रु०।

निम्नलिखित पुस्तकें पुनर्मुद्रित हुईं—

(१) रामचंद्रिका, (२) रानी केतकी की कहानी, (३) नासिकेतोपाख्यान, (४) मध्य हिंदी व्याकरण, (५) भारतीय शिष्टाचार, (६) संक्षिप्त हिंदी व्याकरण, (७) हिंदी साहित्य का इतिहास, (८) भाषाविज्ञानसार, (९) त्रिवेणी, (१०) रत्नाकर, भाग १ तथा (११) हिंदी की गद्य शैली का विकास।

निम्नलिखित पुस्तकें छप रही हैं जिनमें प्रथमोक्त दो बहुत शीघ्र प्रकाशित हो जायँगी—

(१) संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर (संशोधित और परिवर्द्धित), (२) सूर-सागर, खंड २ तथा (३) धातुविज्ञान।

मुद्रणालय

कई वर्ष पूर्व सभा ने अपना निजी मुद्रणालय स्थापित करना निश्चित किया था। इस वर्ष इसके लिये एक नया कमरा बनवाया गया तथा कुछ यंत्रादि भी क्रय किए गए। अन्य आवश्यक उपकरण भी यथासंभव शीघ्र क्रय करके कार्यारंभ कर दिया जायगा।

श्री संपूर्णानंद अभिनंदन समारोह

१७ वैशाख को माननीय श्री संपूर्णानंद जी का अभिनंदन समारोह हुआ। आयोजनानुसार इस अवसर पर उन्हें एक अभिनंदन ग्रंथ समर्पित किया गया

जिसमें सन्निविष्ट लेखों में भारतीय दर्शन के विभिन्न अंगों का विवेचन, साहित्य संबंधी गवेषणात्मक निबंध, प्राचीन भारतीय संस्कृति विषयक अनुसंधानात्मक रचनाएँ एवं अन्यान्य विवादग्रस्त विषयों की मीमांसा है। इस अवसर पर भारत-कला भवन द्वारा एक विशेष प्रदर्शनी तथा भातखंडे संगीत विद्यालय (लखनऊ) द्वारा संगीत का भी आयोजन किया गया था।

भारतेंदु जन्मशती महोत्सव

इस अवधि का दूसरा महत्त्वपूर्ण आयोजन भारतेंदु-जन्मशती-महोत्सव था जो ऋषिपंचमी (सौर ३१ भाद्रपद) को श्री वियोगीहरि के सभापतित्व में संपन्न हुआ। काशिराज श्रीमन्महाराज विभूतिनारायण सिंह ने उत्सव का उद्घाटन किया। इस अवसर पर होनेवाले विशिष्ट आयोजनों में मुख्य ये हैं—विभिन्न नाट्यशैलियों का प्रदर्शन, भारतेंदु जी के समकालीन कवियों का दरबार, सभा का वार्षिकोत्सव तथा पुरस्कार-पदक वितरण, कवितापाठ आदि। रेडियो विभाग ने शती-उत्सव का कार्यक्रम सभा से प्रसारित करने का प्रबंध किया था। इसी अवसर पर सभा के प्रकाशन विभाग द्वारा भारतेंदु जी के नाटकों का संग्रह भारतेंदु ग्रंथावली के प्रथम भाग के रूप में प्रकाशित किया गया तथा नागरीप्रचारिणी पत्रिका का भारतेंदु जन्मशती विशेषांक भी निकाला गया। हमें संतोष है कि यह अंक विद्वानों को रुचिकर हुआ। साहित्य-संदेश (आगरा), विक्रम (उज्जैन), इंडियन पी० ई० एन० (अंग्रेजी, बंबई) आदि मासिक पत्रों में इसकी समीक्षा तथा प्रशंसा छपी। लेफ्टिनेंट कर्नल डाक्टर अमरनाथ झा ने विशेष रूप से सभा को पत्र लिखकर उत्साह बढ़ाया।

माया, जार्ज टाउन,
दिनांक इलाहाबाद, अक्टूबर, १९५०

प्रिय गौड़ जी,

नागरीप्रचारिणी पत्रिका का भारतेंदु विशेषांक मिला। मैंने इसे आदि से अंत तक पढ़ा और इससे बड़ा उपकृत हुआ। इस उच्च कोटि के अंक के प्रकाशन पर अनेक बधाई।

भवदीय,
ह० अमरनाथ झा

श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़, एम० ए०
नागरीप्रचारिणी सभा,
काशी।

काशी-नरेश श्रीमान् विभूतिनारायण सिंह द्वारा भारतेन्दु शती उत्सव का उद्घाटन

उत्सव के सभापति श्री वियोगीहरि का भाषण

पुरस्कार और पदक

१ आश्विन को, सभा के वार्षिकोत्सव के अवसर पर निम्नलिखित पुरस्कार और पदक संमुखांकित विद्वान लेखकों को अर्पित किए गए—

पुरस्कार पदक	पुस्तक	लेखक
बिड़ला पुरस्कार तथा रेडिचे पदक, सं० २००१–२००५	स्वप्न दर्शन	श्री राजाराम शास्त्री
बटुकप्रसाद पुरस्कार तथा सुधाकर पदक, सं० २००२–२००६	अचल मेरा कोई	श्री वृंदावनलाल वर्मा
रत्नाकर पुरस्कार २ तथा बलदेवदास पदक, सं० १९९९–२००३	राजस्थानी भाषा	श्री डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
जोधसिंह पुरस्कार तथा गुलेरी पदक, सं० २००१–२००५	प्राचीन भारतीय शासनपद्धति	श्री डा० अ० स० अलतेकर
द्विवेदी स्वर्ण पदक, सं० २००३	कुरुक्षेत्र	श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'
द्विवेदी स्वर्ण पदक, सं० २००४	बाणभट्ट की आत्मकथा	श्री डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
द्विवेदी स्वर्ण पदक, सं० २००५	आत्मकथा	श्री डा० राजेंद्रप्रसाद

साहित्य गोष्ठी और 'प्रसाद' व्याख्यानमाला

इस अवधि में ४ भाद्रपद को आचार्य नरदेव उपाध्याय के सभापतित्व में तुलसी-जयंती मनाई गई। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित व्याख्यानों के आयोजन हुए—

तिथि		व्याख्यान	व्याख्याता
२० श्रावण, २००७		नेपाल यात्रा	श्री मुनि कनकविजय
२ पौष	,,	रीतिकालीन साहित्य	श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र
३ ,,	,,	भाषाविज्ञान	श्री करुणापति त्रिपाठी
४ ,,	,,	हिंदी की वर्तमान काव्य धाराएँ	श्री विजयशंकर मल्ल
५ ,,	,,	हिंदी का कथा साहित्य	श्री डा० श्रीकृष्णलाल
६ ,,	,,	हिंदी का नाट्य साहित्य	श्री डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा
७ ,,	,,	साहित्यालोचन	श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव
८ ,,	,,	जयशंकर प्रसाद	श्री पद्मनारायण आचार्य

भारतकला भवन

हमें खेद है कि सभा द्वारा संरक्षित संग्रहालय 'भारतकला भवन' इस वर्ष हिंदू विश्वविद्यालय में स्थानांतरित कर देना पड़ा। पिछले १०-१५ वर्षों से इस संग्रहालय का प्रसार जिस तीव्र गति से होता चल रहा था उसे देखते हुए भविष्य में उसका पालन-पोषण करते रहना सभा की सीमित शक्ति के बाहर हो गया था। अतएव जब हिंदू विश्वविद्यालय द्वारा उसके संरक्षण और भविष्योन्नति की आशा बँधी तब सभा ने उसे स्वीकार कर लेना ही श्रेयस्कर समझा।

प्रतिसंस्कृत देवनागरी लिपि

संवत् २००४ में सभा ने देवनागरी लिपि में संशोधन परिवर्तन आदि किए जाने के संबंध में विचार करके यह स्थिर किया था कि श्री श्रीनिवास जी द्वारा प्रतिसंस्कृत लिपि का व्यवहार परीक्षार्थ आरंभ किया जाय। किंतु यह परिवर्तन लोक को ग्राह्य नहीं हुआ। फलतः १ पौष २००७ की प्रबंध समिति ने इस विषय में पुनर्विचार करके यह निश्चय किया है कि अभी इस संबंध में तटस्थ नीति बरती जाय।

—सहायक मंत्री
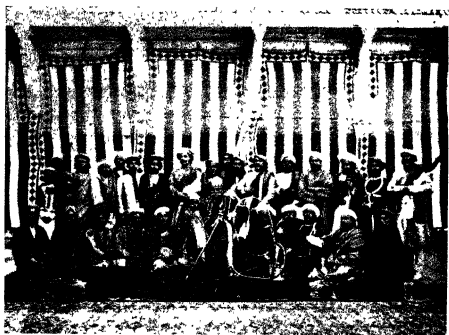
काशी-नरेश श्रीमान् विभूतिनारायण सिंह द्वारा सभा को प्रदत्त दरबार का एक फोटो चित्र,
खड़े व्यक्तियों मे बाईं ओर से सातवे भारतेंदु जी है ।
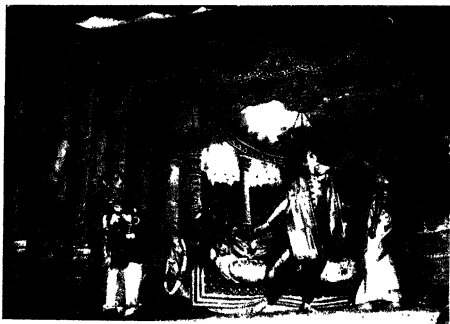
शती उत्सव के अवसर पर अभिनीत बुद्ध-गृहत्याग का एक दृश्य

सभा के वार्षिक विवरण (सं० २००६) का परिशिष्ट

हस्तलिखित ग्रंथों की खोज

इस वर्ष श्री दौलतराम जुयाल ने डा० दीनदयालु गुप्त (अध्यक्ष, हिंदी विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय) के निरीक्षण में रायबरेली और लखनऊ जिलों में कार्य किया। श्री कृष्णकुमार वाजपेयी परतापगढ़ और बस्ती जिलों में क्रमशः श्री शीतलाप्रसाद ऐडवोकेट और प्रोफेसर श्रीपति शर्मा के निरीक्षण में कार्य करते रहे। परतापगढ़ जिले में कार्य समाप्त हो गया है।

श्री दौलतराम जुयाल ने २४६ और श्री कृष्णकुमार वाजपेयी ने २०७ ग्रंथों के विवरण लिए। सब ४५३ ग्रंथों में से ४३ ग्रंथों के रचयिता अज्ञात हैं। शेष ४१० ग्रंथ ३२० ग्रंथकारों के रचे हैं।

ग्रंथों और ग्रंथकारों का विक्रमीय-शताब्दि-क्रम से वर्गीकरण नीचे दिया जाता है—

शताब्दी	१४वीं	१५वीं	१६वी	१७वीं	१८वीं	१६वीं	२०वीं	अज्ञात	योग
ग्रंथकार	१	४	६	२६	३८	६५	२६	१५४	३२०
ग्रंथ	२	११	६	४५	५४	८६	३६	२१०	४५३

ग्रंथों का विषय-विभाजन इस प्रकार है—

(१) दर्शन—३१, (२) योग—४, (३) अध्यात्म—४, (४) भक्ति—४९, (५) पुराण तथा इतिहास—२७, (६) काव्य—५७, (७) अलंकार—१३, (८) शृंगार—३१, (९) रीति—८, (१०) लीलाविहार—१०, (११) ज्ञानोपदेश—४१, (१२) कथा-कहानी—१४, (१३) परिचयी तथा वार्ता—४, (१४) पिंगल—७, (१५) पौराणिक कथाएँ—३०, (१६) स्तोत्र तथा माहात्म्य—२३, (१७) प्रेमकथा-काव्य—१, (१८) स्वरोदय—५, (१९) नीति—३, (२०) वास्तुविद्या—२, (२१) कोकशास्त्र—७, (२२) तंत्र-मंत्र—२, (२३) ज्योतिष—१८, (२४) शकुन—१, (२५) शालिहोत्र—१०, (२६)

धार्मिक—१५, (२७) वैद्यक—१९, (२८) संगीत—४, (२९) कोश—२, (३०) सामुद्रिक—२, (३१) भूगोल—१, (३२) स्वप्नविचार—२, (३३) नाटक—१ (३४) विविध—५।

श्री दौलतराम जुयाल द्वारा जिन ग्रंथों के विवरण लिए गए उनमें निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण है—

अलंकार शृंगार (सटीक)—शिवदास कृत। अलंकार विषयक सुंदर रचना है। रचनाकाल अज्ञात ; लिपिकाल संवत् १९५२ वि०।

टिकैतरायप्रकाश—त्रेती निवासी कवि बेनीकृत अलंकार विषयक रचना है जिसमें अवध के दीवान टिकैतराय का भी यश वर्णन किया गया है। रचनाकाल १८४९ वि० और लिपिकाल १९४५ वि०।

रसविलास—यह भी उपर्युक्त बेनी कवि की ही रचना है जिसमें रसों और नायिका-भेद का वर्णन है। कवि की यह प्रधान रचना है। रचनाकाल १८७४ वि०; लिपिकाल १९५३ वि०।

दलेलप्रकाश—थान कवि कृत। रचनाकाल १८४८ वि० और लिपिकाल १९४६ वि०।

काव्यविलास—प्रतापसाहिकृत साहित्यशास्त्र विषयक प्रौढ़ कृति है। रचनाकाल संवत् १८८६ और लिपिकाल संवत् १९४६ है।

भाषाभरण—बैरिसाल द्वारा रचित उत्तम कृति है। रचनाकाल १८२५ वि० और लिपिकाल १९४६ वि० है।

कमरुद्दीनखाँ हुलास—रचयिता गंजन कवि। यह नायिकाभेद के अतिरिक्त ऐतिहासिक रचना भी है जिसमें दिल्ली के वजीर कमरुद्दीनखाँ की वीरता का वर्णन है। रचनाकाल संवत् १७८५ वि०।

राधासुधानिधिटीका—राधावल्लभी संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य हितहरिवंश कृत 'राधासुधानिधि काव्य' की यह गद्यटीका है। लिपिकाल १९५२ वि०।

भागवत दशम स्कंध (काव्य)—रचयिता गिरधारी। एक सुंदर साहित्यिक कृति है जिसमें श्रीकृष्ण की ब्रजलीलाओं का संक्षेप में बड़ा रोचक और आकर्षक वर्णन किया गया है। बीसवीं शती के प्रारंभ की रचना है।

सुदामा चरित्र—इसके भी रचयिता गिरधारी ही हैं। सुदामा की दीनता का इसमें बड़ा हृदयग्राही वर्णन है।

बाबा मलूकदास की परिचयी—रचयिता सुथरादास। इसमें बाबा मलूकदास का परिचय दिया है। रचयिता बाबा मलूकदास ही के भानजे थे, अतः रचना के प्रामाणिक होने में कोई संदेह नहीं। इसकी एक प्रति संवत् १७८४ की लिखी है।

नेहप्रकाश—बालकृष्णदास कृत। रचनाकाल संवत् १७४९ और लिपिकाल संवत् १८८५ वि०।

शक्तिचिंतामणि, बरवै और कवित्त—भवानीप्रसाद "भावन" कृत शृंगार-विषयक सुंदर रचनाएँ है। प्रथम ग्रंथ को संक्षिप्त विवरण मे भैया त्रिलोकीनाथसिंह का रचा बताया है पर प्रस्तुत प्रति द्वारा ऐसा विदित नहीं होता। रचनाकाल संवत १८५१ और लिपिकाल संवत् १८७३ वि०।

हितचौरासी की टीका—प्रेमदासि कृत हितहरिवंश के चौरासी पदों पर व्रजभाषा गद्य में विस्तृत टीका की गई है। रचनाकाल संवत् १७९१ वि० है।

संतसई—राय राजा जयसिंह राय द्वारा रचित संत-साहित्य की उत्तम रचना है। इसमे सौ दोहे हैं जिनमें बड़े मार्मिक भाव प्रकट किए गए है। लिपिकाल संवत् १९५७ है।

कोकसार—आनंद कवि कृत। इस बार इसकी संवत् १८९८ वि० की लिखी प्रति मिली है जिसमें रचनाकाल संवत् १६६० वि० दिया है।

अलंकार मनमंजरी—ऋषिनाथ द्वारा रचित अलंकार विषयक रचना है। रचनाकाल संवत् १८३० और लिपिकाल संवत् १८६० है।

कृष्णचंद्रिका—बलिदेवदास कृत सुंदर काव्य कृति है।

सतीविलास—नारि विरंजि द्वारा रची गई यह एक उपदेशात्मक रचना है, जिसको रचयित्री ने अपने पति के मनोरंजनार्थ लिखा था। यह वि० बीसवीं शती के प्रारंभ की रचना विदित होती है।

देवीचरित्र—रचयिता आनंदलाल। एक साहित्यिक कृति है, जिसमे भगवती का ओजस्वी चरित्र वर्णित है। रचनाकाल संवत् १८०६ वि० और लिपिकाल संवत् १९०२ वि० है।

कवित्त शेखसाईं—इस बार आलम के कवित्त शेखसाईं के नाम से मिले हैं।

अपभ्रंश सूक्तियाँ—अपभ्रंश के कुछ ऐसे छंद मिले हैं, जिनमें उत्तम सूक्तिय कही गई है। इनकी संस्कृत मे टीका दी गई है और इनमें देशी शब्दों का भी प्रयोग मिलता है।

शालिहोत्र—राजा सूव्वासिह 'श्रीधर' कृत शालिहोत्र विषयक उत्तम ग्रंथ है। रचनाकाल संवत् १८९६ और लिपिकाल संवत् १९४५ है।

रससागर—रचयिता सिवराज महापात्र। नायिका-भेद विषयक रचना है जिसमें मझौली (गोरखपुर) के राजवंश का विस्तृत वर्णन है। ऐतिहासिक दृष्टि से ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है। रचनाकाल संवत् १८६६ है।

व्यवहारपाद—प्रियादास कृत याज्ञवल्क्य स्मृति के व्यवहारपाद की गद्य टीका है। लिपिकाल संवत् १९०४ वि० है।

शिखनख—हनुमान कवि द्वारा रचित उत्तम शृंगारिक कृति है। रचनाकाल और लिपिकाल अज्ञात है।

कामकलासार—इदयागिरि कृत। इसमें विषय का शास्त्रीय और पूर्ण विवेचन है। रचनाकाल संवत् १८३७ और लिपिकाल संवत् १९२२ वि० है।

इस बार पैंतालीस जैन रचनाओं के विवरण भी लिए गए हैं जिनमें निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण हैं—

पांडवपुराण—रचयिता अज्ञात। यह खड़ी बोली गद्य में लिखा गया बृहत्काय ग्रंथ है। विषय नाम से ही स्पष्ट है। रचनाकाल दिया तो नहीं पर इसमें वर्णित आधारों के अनुसार यह सतरहवीं विक्रमशती के उत्तरार्द्ध में रचा गया था। यह मूल संस्कृत का अनुवाद है।

तत्त्वज्ञान तरंगिणी—मूल रचना संस्कृत में है, जिसके रचयिता भट्टारक ज्ञानभूषण हैं। भाषाकार अज्ञात है। तत्त्वज्ञान विषयक यह रचना प्राचीन गद्य मे है जिसमें खड़ीबोली का भी रूप पाया जाता है।

उत्तरपुराण भाषा—खुस्यालकृत एक बृहद् ग्रंथ है जिसमें जैन तीर्थंकरों के चरित्रों का वर्णन है। रचनाकाल १७९९ वि० और लिपिकाल १८७३ वि० है।

सुदर्शन चरित्र—नंद या नंदलालकृत। इसमें जैन धर्मानुयायी सुदर्शन सेठ की कथा का वर्णन है। रचनाकाल संवत् १६६३ है।

पांडवपुराण—रचयिता बुलाकीदास। एक बृहद् ग्रंथ है। रचनाकाल १७५४ वि० और लिपिकाल १६०६ वि० है।

आदिपुरान की बालबोध भाषा वचनिका—रचयिता दौलतराम। इसमें आरंभिक जैन तीर्थंकरों का चरित्र-वर्णन है। रचना खड़ी बोली गद्य में है, अतः महत्त्वपूर्ण है। रचनाकाल संवत् १८२४ और लिपिकाल संवत् १८६८ वि० है। मूलग्रंथ का यह अनुवाद है।

रामपुरान—खुस्यालचंद कृत। विषय नाम से ही स्पष्ट है। रचनाकाल संवत् १७८३ है और लिपिकाल संवत् १८२७ वि०। यह भी मूल संस्कृत का अनुवाद है।

श्रीपालविनोद—विनोदीलाल कृत। इसमे जैन-धर्मानुयायी राजा श्रीपाल का चरित्र वर्णित है। रचनाकाल १७५० वि० तथा लिपिकाल १८९४ वि०।

श्रीपाल चरित्र—इसके रचयिता कवि परिमल्ल हैं जो एक प्रौढ़ कवि विदित होते हैं। इनकी प्रस्तुत रचना साहित्यिक दृष्टि से उत्तम कृति है। इसमें भी राजा श्रीपाल का ही वर्णन है। रचनाकाल १६४९ वि० और लिपिकाल १८७४ वि०।

पुण्याश्रव कथाकोस भाषा—दौलतराम कृत गद्य ग्रंथ है। इसमे अनेक कथाओं का संग्रह है। रचनाकाल १७७७ वि० और लिपिकाल १८८७ वि०।

शांतिनाथपुराण—सेवाराम कवि कृत। इसमें शांतिनाथ तीर्थंकर का चरित्र-वर्णन किया गया है। रचनाकाल संवत् १८३४ और लिपिकाल संवत् १६०९ है।

यशोधर चरित्र—नंद या नंदलाल कृत। इसमें जैन भक्त यशोधर का चरित्र-वर्णन है। रचनाकाल १६७४ वि०।

भक्तामर चरित्र—विनोदीलाल द्वारा रचित उत्तम कृति है। रचनाकाल १७४७ और लिपिकाल १६०९ वि०।

श्री कृष्णकुमार वाजपेयी द्वारा विवृत ग्रंथों मे निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण हैं—

जैमिनिपुराण—रचयिता पुरुषोत्तमदास। रचनाकाल १६५८ वि० और लिपिकाल १८६५ वि०। साहित्यिक दृष्टि से ग्रंथ उत्तम है।

मोहमुग्दर—तुलसीदास कृत। लिपिकाल १९३९ वि०।

अंककुतूहल—पीतमदास कृत। इसमें गणित के उत्तम उत्तम चुटकुले और उनके हल दिए गए हैं। विषय की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण रचना है। रचनाकाल संवत् १८८८ वि० है।

रामरसायन—भगवानदास कृत पिंगल विषयक कृति है। रचनाकाल १८३७ वि०।

नासकेतकथा—रचयिता भगवतीदास। रचनाकाल १६८८ वि० और लिपिकाल १६१६ वि०।

छायायोग—जानकीदास द्वारा रचित योग-विषयक रचना है। लिपिकाल संवत् १६१० है।

चंपूसाध्य (सामुद्रिक)--रचयिता भूप या भूपति। इसमें कोक और सामुद्रिक विषयों का वर्णन है। रचनाकाल १६९५ वि० और लिपिकाल १७१७ वि०।

विराह चंद्रिका—सारंगधर कृत। कोशविषयक ग्रंथ है। इसमें स्वर्णकारी विद्या का भी वर्णन किया गया है। लिपिकाल १७७४ वि०।

वैद्यक विलास--चिरपटनाथ द्वारा रचित। वैद्यक का उत्तम ग्रंथ है। रचनाकाल-लिपिकाल अज्ञात है।

बद्रीनाथयात्रा कथा--अयोध्यानरेश बख्तावरसिंह की धर्मपत्नी ने इसकी रचना संवत् १७८८ वि० मे की थी। विषय की दृष्टि से ग्रंथ महत्त्व का है।

भक्ति उक्ति--रचयिता दासराम। भक्ति संबंधी रचना है। रचनाकाल १७७१ वि०।

भागवतभाषा--सबलस्याम कृत। रचनाकाल १६८८ वि० और लिपिकाल १९०९ वि०।

कविता कल्पतरु—सागर कवि कृत। साहित्यशास्त्र विषयक रचना है। ग्रंथ के संबंध मे विशेष बात यह है कि राजस्थान के किसी राजा के आज्ञानुसार कवि ने एक कविगोष्ठी की जिसमें काव्य-लक्षणों के विषय मे विवेचना हुई। जो जो बाते सर्वसम्मति से निश्चित हुई उनका प्रस्तुत ग्रंथ में विस्तार से वर्णन किया गया है। इस दृष्टि से प्रस्तुत रचना का महत्त्व स्वयं प्रकट होता है। रचनाकाल संवत् १७८८ और लिपिकाल संवत् १७८६ होने से प्रस्तुत प्रति मूल प्रति ही विदित होती है।

बानी--मनमोहनदास कृत। संत-साहित्य विषयक रचना है।

सुदामा चरित्र--रचयिता मलोली (बस्ती) निवासी बनमाली हैं। रचनाकाल और लिपिकाल एक ही, संवत् १८५८ वि० है। यह उत्तम साहित्यिक कृति है।

जुगलानंद सुधा--रचयिता कृष्णदास। इसमें भगवान श्रीकृष्ण की अष्टप्रहर सेवा विधान का वर्णन है। लिपिकाल संवत् १८७३ वि०।

सियाराम गुणानुवाद--अहलाद दास कृत। इसमें रामचरित्र वर्णित है। मानस के ढंग पर यह लिखा गया है। रचनाकाल संवत् १८१४ वि०।

वर्षप्रदीप—परमेश्वरदत्त द्वारा रचित ज्योतिष विषयक ग्रंथ है। रचनाकाल संवत् १७९६ वि० तथा लिपिकाल सवत् १६३१ वि० है।

लग्न सुंदरी--रचयिता छदूराम। ज्योतिष का ग्रंथ है। रचनाकाल १८७० वि० और लिपिकाल १९७० वि०।

रसरत्न—भूपतिकृत रस और अलंकार विषयक सुंदर रचना।

विक्रम नाटक—रचयिता रणविजय बहादुर सिंह। यह खड़ी-बोली गद्य में लिखा गया एक नाटक है। रचनाकाल और लिपिकाल अज्ञात है।

ऊपर के विवरण से पता चलता है कि इस बार साहित्यिक ग्रंथों की बहुलता रही। इनमें से कई ग्रंथों में मध्यकाल के ऐतिहासिक विवरण भी पाए जाते हैं। भक्ति, संत-साहित्य, परिचयी (जीवनी) और स्मृति (धर्मशास्त्र) संबंधी भी उपयोगी रचनाएँ मिली है। कामशास्त्र और शालिहोत्र के भी ग्रंथ मिले है जिनमें शास्त्रीय दृष्टिकोण से विषयों का सुंदर प्रतिपादन किया गया है।

विशेष उल्लेखनीय कार्य इस वर्ष यह हुआ कि लखनऊ के दो प्रमुख जैन मंदिरों में प्रचुर मात्रा में उक्त संप्रदाय के धार्मिक और साहित्यिक ग्रंथ मिले हैं जिनके विवरण लिए जा रहे है। इनको देखने से पता चलता है कि अधिकांश प्राचीन जैन वाङ्मय का हिंदी मे बहुत पहले ही से अनुवाद प्रस्तुत है। इनमे गद्य पद्य दोनों में रचनाएँ हैं। अनेक ग्रंथों के अनुवाद काव्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं और हिंदी साहित्य के इतिहास संबंधी ग्रंथों में स्थान पाने योग्य है।

गत वर्ष के विवरण में सन् १९२६-२८ ई० की खोज की त्रैवार्षिक विवरणिका के राजकीय प्रेस में छपने के लिये भेजे जाने का उल्लेख किया गया था। वह अभी छपी नहीं है। आगे की कई त्रैवार्षिक विवरणिकाएँ प्रेस के लिये तैयार हैं। छपने के लिये भेजी गई उक्त विवरणिका मुद्रित हो जाते ही इन्हें भी क्रमशः छपने के लिये भेज दिया जायगा।

इस वर्ष श्री दौलतराम जुयाल ने सभा के लिये निम्नलिखित हस्तलेख प्राप्त किए—

नाम	रचयिता	रचनाकाल	लिपिकाल
न्याय ग्रथ	×	×	×
पिगल (अपभ्र श)	दिनकर	×	×
अनुभवसागर	×	×	×
रससारिणी	×	×	×
शालिहोत्र	दयानिधि	×	×
योगरत्नाकर	×	×	१६०७ वि०
वैद्यमतोत्सव	नयनसुख	स० १६४९ वि०	१६०१ वि०
रामविनोद	रामचद्र	×	×
चाणकशास्त्र भाषा	कवि सेनापति	×	×
भँवरगीत	जनमुकुद	×	१८९८ वि०
रामनवरत्न (मुद्रित)	जानकीप्रसाद या जानकी सिंह	सं० १६०८ वि०	मुद्रण १६२३ वि०
भगवती विनय	"	"	" "
रागमाला	×	×	×
बारहमासा	कबीर	×	×
ऋषिपचमी व्रतकथा	×	×	१८६० वि०
कोकशास्त्र	×	×	×
सत्यनारायण की कथा (गद्य)	×	×	×
वास्तु प्रदीप (गद्य)	×	×	×
ज्ञानदीपिका	तुलसीदास	सं० १६३१ वि०	×
भागवत (प्रथम स्कंध, गद्य)	×	×	×
बारहमासा	वहाव	×	×
नायिका भेद	×	×	×
सत्य प्रबध	गदाधर शुक्ल	स० १८४४ वि०	सं० १८६० वि०
कवित्त सग्रह	विविध कवि	×	×
गीता भाषा	×	×	×
भागवत दशमस्कंध	रामदास	×	×

पिंगल	×	×	×
पिगल	×	×	×
रसमालिका	रामचरणदास	×	×
ज्ञानप्रकाश	जगजीवनदास	×	स० १६१६ वि०
रामायण-माहात्म्य या तुलसीचरित्र	गंगादास	×	×
ब्रह्मरहस्य	रतनहरि	×	×
वैद्यशिरोमणि	रामकवि	सं० १६०८ वि०	×
अध्यात्म लीलावती	संतन कवि	×	×
जातक चद्रिका	शंभूनाथ त्रिपाठी	×	×
पद	मगनानद	×	×
प्रश्नमनोरमा	जैनज्वाला	सं० १६२७ वि०	×
भडुली ज्योतिष	भडुली	×	×
बोधरतन	भगवद्दास	×	×
बभ्रुवाहन काड	जनप्राननाथ	×	स० १८६८ वि०
वैराट पर्व	हेमनाथ	×	सं० १८७५ वि०
सुखदेव चरित्र	बागेश्वर भारती	×	सं० १९०६ वि०
भागवत की अनुक्रमणिका	बालदास	×	सं० १९२१ वि०
गणेशपुराण	मोतीलाल	×	×
कृष्ण-जन्म	भोपत	×	×
ध्यानमंजरी	अग्रदास	×	×
गीताभाषा	×	×	×
व्याधिनास (मूल प्रति)	मेहरबानकृत	×	स० १८७१ वि०
मुहूर्तमंजरी	शंभूनाथ त्रिपाठी	स० १८०३ वि०	१८८६ वि०
कवित	छैल	×	×
सीतावनवास कथा (अवधी की प्राचीन रचना)	×	×	×
पिंगल	चतुर्भुज (अकबर का आश्रित)	×	×
नायिकाभेद	नीलकठ	×	×
ककहरा	गंगादास	×	×

कविप्रिया टीका (कविप्रियाभरणाख्या)	हरिचरणदास	×	×
अपभ्रंश की रचना (सूक्तिकाव्य)	×	×	+
दूत परीक्षा (वैद्यक)	कवि श्रीधर	×	×
पिंगल	सुखदेव मिश्र	×	सं० १८६३ वि०
सतसई	बिहारीलाल	×	सं० १८६४ वि०
शालिहोत्र	नकुल	×	सं० १९०१ वि०
प्रश्नोत्तर विदग्ध मुखमडन	चदन कवि	सं० १७६७ वि०	×
जलहरण दडक	,,	×	×
वसतराज भाषाशास्त्र (गद्य)	×	×	×
रामरसिक रागमाला	गोपालदास	×	×

श्री कृष्णकुमार वाजपेयी द्वारा निम्नलिखित हस्तलिखित पुस्तकें प्राप्त हुईं —

रचना	रचयिता	रचनाकाल	लिपिकाल
छठी महातम	अज्ञात	×	×
अध्यात्म	सुखदेव	×	×
बानी	मनमोहनदास	×	१६०७ वि०
विराटपर्व, महाभारत	गोविंद कवि	×	×
निर्णयसार	कबीरदास	×	१६४४ वि०
भ्रमरगीत	प्रागनि	×	११६१ साल
रामशलाका	तुलसीदास	×	×
कवित्त	धारू	×	×
प्रयागशतक	भागवत	×	×
शालिहोत्र	कुरतराम	१८७४ वि०	१९३१ वि०
भक्ति	खेमकरन	×	१२८४ साल
पिंगल	गगादास	×	१२७६ साल
भँवरगीता	प्रागनि	×	१६२५ वि०
गृहस्तधर्म	अज्ञात	×	१२६१ साल
निकुजवर्णन (ब्रजभाषा गद्य)	अज्ञात	×	×
शालिहोत्र	पाडेय गुरदीन	×	१२८० साल
नायिका भेद	अज्ञात	×	१८६० वि०

स्वप्नविचार	सीताराम	१८२७ वि०	×
स्वप्नविचार	पीतांबर राय	×	१८२६ वि०
वैद्यमतोत्सव (मुद्रित)	नैनकवि	१६४६ वि०	१९२२ वि०
चित्रकूट विलास (खंडित)	हृदयराम	×	×
गुजाकल्प	गौरी	×	१६१८ वि०
भरथ विलाप	ईश्वरदास	×	×
स्वरोदय	चरणदास	×	×
ग्रह दीपक	भवानीचरण	×	१९४० वि०
ज्योतिष	गेवा	×	×
रामबाराखड़ी	रामरत्न	×	१६३४ वि०
जुगलानंद सदासमुद्र (सिकरावली)	जैदयाल	×	१८७३ वि०
भारती कंठाभरन	जगत सिंह	१८६३ वि०	१८९६ वि०
नासकेत कथा (खडित)	अज्ञात	×	×
अलंकार	भिखारीदास	×	×
सामुद्रिक	राम	×	१९०४ वि०
साठिका	अज्ञात	×	१८१७ वि०
विष्णुसहस्रनाम	हरिभुवनदास	×	×
महाभारत	नामदेव	×	×
विक्रम नाटक	रणविजै बहादुर सिंह	×	×
लक्ष्मीचरित्र मानमंजरी	नारायणलाल	×	×
सूरसागर (खडित)	सूरदास	×	×
वंशविभूषण	गोविंद कृत	१८६९ वि०	×
रसरत्न (खडित)	भूपति	×	×
बारहमासा ,,	हरिवंश	×	×
जीवगति	मातादीन शुक्ल	×	१६१० वि०
गीताभाषा	गंगादास	×	१२६८ साल
चपूसाध्य	भूप	१६९५ वि०	१७१७ वि०
आरतमोचन	भगवानदास	१८८५ वि०	×
ज्ञानतिलक	कबीरदास	×	×
मोहमुग्दर	तुलसीदास	×	१९३९ वि०

ज्ञानसंबोध विधान बोध	अक्षर अनन्य	×	×
होरी	मौजीदास	×	×
सुदामा चरित्र	गिरजाराम	१७८३ वि०	×
शालिहोत्र	करताराम	×	×
छाया जोग	जानकीदास	×	१९१० वि०
कवित्त	जानकीदास	×	×
स्वप्न विचार	अमरसिंह	१७९९ वि०	×
हरिश्चंद्र कथा	जगन्नाथ	×	१२७० साल
आत्मकर्म	पलटूदास	×	×
काव्यकल्पद्रुम (मुद्रित)	विश्वनाथ सिंह	१९४३ वि०	×
भक्ति उक्ति	दासराम	१७७१ वि०	×
रमलप्रकाश	राघवदास	×	१९११ वि०
गीत भाषा	शुक कवि	×	×
कहावत	साचार	×	×
चित्रकूटविलास	कृपाराम	१८३५ वि०	×
सुखसाराख्य	×	×	×
बारहमासा, बारहमासा (एक मे)	नत्थन, खैराशाह	×	१८२२ वि०
घड़ी खैरा की	खैराशाह	×	×
कका बतीसी	गोविंददास	×	×
ककहरा	अजबदास	×	१९३४ वि०
विराह चंद्रिका	सारंगधर	१७७४ वि०	×

खोज-कार्य का निरीक्षण और समय-समय पर अन्वेषकों को उचित परामर्श देकर डा० दीनदयाल गुप्त (अध्यक्ष, हिंदी विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय), श्री शीतलाप्रसाद ऐडवोकेट (प्रतापगढ़), श्री कुंवर सुरेशसिंह (कालाकांकर) और पंडित श्रीपति शर्मा (प्राध्यापक, सेकसरिया-कालेज, बस्ती) ने जो सहायता की है उसके लिये सभा उनकी अत्यंत अनुगृहीत है। श्री गोपालचंद्र सिंह (विशेष कार्याधिकारी, हिंदी राजकीय कोश विभाग, प्रांतीय सचिवालय, लखनऊ) का भी सभा विशेष आभार स्वीकार करती है, जो प्रत्येक अवसर पर वांछित सहायता देते रहे हैं।

कृष्णदेवप्रसाद गौड़

प्रधान मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।